संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का २० वाँ रत्न

(श्रीमती पतासबाई जैन ग्रंथमाला की प्रथम पुस्तक)

सम्यक्त्व-विमर्श

लेखक—

रतनलाल डोशी

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति रक्षक संघ
सैलाना (म० प्र०)

द्रव्य सहायिका धर्मशीला सुश्राविका श्रीमती पतासबाई, मातेश्वरी श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी सा. बोहरा, मंड्या जिला—मैसूर

न्योछावर एक रुपया मात्र

प्रथमावृत्ति १५००

वीर संवत् २४९३
विक्रमसंवत् २०२३
दिसंबर १९६६

संघ का यह प्रकाशन

दर्शन-मोहनीय कर्म के उत्कट उदय से, जीवरूपी चन्द्रमा मिथ्यात्वरूपी राहु से ग्रसित होकर, विद्रूप होकर हिताहित का विवेक खो देता है। इस मिथ्यादृष्टि के कारण मित्ररूप सम्यक्त्व को शत्रु और शत्रुरूप मिथ्यात्व को मित्र मानने लगता है। कई बार सम्यक्त्वी मनुष्य भी कांक्षामोहनीय कर्म के उदय से डिगमिगाकर चञ्चल होजाता है, उसकी श्रद्धा की नींव हिलने लगती है। जब उसके सामनें अपने ही धर्म के विविध पक्षों के मन्तव्यभेद, आचारभेद और प्रचारभेद आता है, तो सामान्य विचारक चक्कर में पड़ जाता है। वह सोचता है कि एक ही जिनधर्म में यह विविधता क्यों? एकरूपता क्यों नहीं? इनमें से सत्य क्या और असत्य क्या? ऐसे समय यदि बुद्धि काम नहीं दे, तो मन को आश्वस्त करके स्थिर रखनें के लिए भगवतीसूत्र श. १ उ. ३ में गणधर भगवान् गौतम-स्वामीजी म० के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर प्रभु ने सरल मार्ग बतला दिया है। वह इस प्रकार है;—

"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"—जिनेश्वर भगवान् ने जो निरूपण किया है, वही सत्य और सन्देह रहित है। इस प्रकार मन में धारण करता हुआ जीव, आज्ञा का आराधक होता है।

मनुष्य, प्रत्येक विषय में अपनी बुद्धि से निर्णय करना

चाहता है। वह तत्त्व की थाह लेने का प्रयत्न करता है, किन्तु सभी मनुष्य सही निर्णय पर ही पहुँचते हैं–ऐसी बात नहीं है। बहुत से गलत विचारधारा में पड़कर अन्यथा मार्ग ले लेते हैं। बहुत थोड़े लोग ही सही मार्ग पा सकते हैं।

सम्यक्त्व का विषय सरल भी है और विकट भी। जो "**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं**"–को दृढ़ता पूर्वक हृदय में रखकर वैचारिक भूलभुलय्या से बचता है, उसके लिए सरल है और तर्क-वितर्क में पड़कर उलझता है, उसके लिए विकट है। उस विकट मार्ग को पारकर सही मार्ग पर दृढ़ता पूर्वक चलते रहने का निमित्त इस पुस्तक ने प्रस्तुत किया है। 'सम्यक्त्व-विमर्श' लेखमाला सम्यग्दर्शन में प्रकाशित हो चुकी थी। यह लेखमाला सम्यक्त्वरूपी आत्म-रत्न को सुरक्षित रखकर जिज्ञासुओं को पूर्ण संतुष्ठ करेगी–ऐसा हमारा विश्वास है। जैनत्व की श्रद्धा, जैनी के हृदय में दृढ़तर जमाने वाली हमारे समाज में अपने विषय की यह अपूर्व पुस्तक है।

संघ का प्रकाशनकार्य धीमी गति से किंतु प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहा है। संघ के प्रकाशनों से समाज का श्रद्धालुवर्ग लाभान्वित हो रहा है। यह हमारे लिए प्रसन्नता की बात है। संघ चाहता है कि धार्मिक साहित्य अधिक मात्रा में समाज की सेवा में समर्पित करे।

इसके प्रकाशन में प्रियधर्मी श्रीमान् सेठ मिलापचंदजी साहब मंड्या निवासी की धर्मशीला मातेश्वरी श्रीमती पतास बाई ने पूरा खर्च प्रदान कर अपने धर्म-प्रेम और उदारता का

परिचय दिया है। इसीसे यह आधे मूल्य में समाज को अर्पित की जा रही है। इसकी बिक्री से प्राप्त रकम भी पुस्तक प्रकाशन में ही लगेगी। आशा है कि समाज के अन्य धर्म-प्रेमी गण आपका अनुकरण कर धर्म-सेवा में उदारता पूर्वक योगदान करेंगे।

मानकलाल पोरवाड़ B. Sc. L.L. B.
एडवोकेट धार–अध्यक्ष
रतनलाल डोशी–प्रधान मन्त्री
बाबूलाल सराफ, धार–मन्त्री
जशवंतलाल शाह, बम्बई–मन्त्री

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन
संस्कृति रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

मेरा निवेदन

आदरणीय धर्मबन्धुओं !

मेरी मातेश्वरी के शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई, तब उनकी इच्छा हुई कि मनुष्य जीवन पाकर यथासंभव धर्मसेवा करनी चाहिए। उन्होंने कहा-"अपने समाज में धर्मभावना बहुत कम होती जा रही है। जो धर्मप्रेम २५, ३० वर्ष पहले दिखाई देता था, वह अब दिखाई नहीं देता। जिनके माता-पिता और दादा दादी धर्मपरायण थे, उनके पुत्र-पौत्रों में धर्मभावना नहीं रही। वे धर्म से वंचित रहने लगे और कोई अंट-संट बातें कर के धर्म की निन्दा भी करते हैं। यह दशा देखकर दुःख होता है। ऐसे लोगों को समझाने और धर्मभावना को जमाने के लिए ज्ञान का प्रचार होना जरूरी है। धर्म पर श्रद्धा जमाने के लिए वैसी पुस्तक का प्रचार हो, तो उसे पढ़कर समझदार लोग अपने धर्म में विश्वास करें, उनके मनमें धर्म का प्रेम बढ़े।" उनकी ऐसी भावना देखकर मैंने कहा-"आपकी आज्ञानुसार वैसी पुस्तक का प्रचार किया जायगा।" थोड़े ही दिन बाद 'सम्यग्दर्शन' में "सम्यक्त्व-विमर्श" के प्रकाशन की बात पढ़ने में आई। मैंने सोचा-यह पुस्तक हमारे धर्मबन्धुओं के लिए बड़ी उपयोगी होगी। इसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का विस्तार के साथ हृदयस्पर्शी विवेचन हुआ है। यदि यह पुस्तक प्रचारित

की जाय और साथ ही अल्प मूल्य में धार्मिक साहित्य का प्रचार किया जाय तो लाभ हो सकता है। मैंने श्रीडोसीजी साहब को मातेश्वरी की आज्ञानुसार स्वीकृति भेजते हुए शीघ्र ही पुस्तक प्रकाशित करने का आग्रह किया। मेरा पत्र पहुँचते ही आपने कार्य प्रारंभ कर दिया और अन्य पुस्तक का मुद्रण रोक कर इसकी छपाई करके पूर्ण किया। परिणाम स्वरूप यह पुस्तक पाठकों के सामने उपस्थित हुई है। यदि पाठक इसे ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे, तो उन को लाभ होगा और मेरी मातेश्वरी की भावना सफल होगी।

मेरी मातेश्वरी की इच्छा तो बिना मूल्य के ही पुस्तक देने की थी और मैंने यह बात श्रीडोशीजी साहब के सामने रखी, किंतु आपने कहा–'बिना मूल्य की पुस्तक व्यर्थ बहुत जाती है, इसलिए थोड़ा मूल्य रखकर देना ठीक रहेगा। उसकी बिक्री से प्राप्त रकम दूसरी पुस्तक के काम में आ सकेगी।' मातेश्वरी की इच्छा को सफल करने के लिए मैंने **"श्रीमती पतासबाई पुस्तकमाला"** चालू करने का विचार किया है, जिसकी यह प्रथम पुस्तक है। इसके बाद योजना स्थिर कर, दूसरी पुस्तक के विषय में विचार किया जावेगा।

मिलापचंद बोहरा
पिसांगन (अजमेर)
व्यापार स्थल–मंड्या (मैसूर)

लेखक की ओर से—

सम्यक्त्व का विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है। धर्म का आधार और द्वार ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के द्वार में प्रवेश करके ही धर्म के भव्य भवन में प्रवेश किया जा सकता है। सम्यक्त्व की भूमिका पर रहनेवाला ही मोक्ष-सुमेरु के शिखर पहुँच सकता है। अतएव प्रत्येक जैन धर्मानुयायी को सम्यक्त्व का विषय समझना परमावश्यक है। सम्यक्त्व, मोक्ष की पक्की गारंटी है। जिसने सम्यक्त्व का एक बार, थोड़ी देर के लिए भी स्पर्श कर लिया, उसने मोक्ष में अपने लिए स्थान बना लिया। सम्यक्त्वी के लिए मोक्ष की गारंटी, तीर्थंकर भगवान् ने दी है और आगम तथा अन्य शास्त्र इसके साक्षी हैं। सम्यक्त्व से रहित जीव की साधना, आराधना से वंचित रहती है। कठोर एवं उग्र साधक भी सम्यक्त्व के अभाव में विराधक ही रहता है।

'सम्यक्त्व' के विषय को स्पष्ट करने के लिए, सम्यग्दर्शन वर्ष ८ सन् १९५७ के प्रारंभ—ता. ५–१–५७ के प्रथम अंक से ही "सम्यक्त्व विमर्श" शीर्षक एक लेखमाला चालू की थी, जो वर्ष ९ अंक २४ ता. २०–१२–५८ तक बराबर चलती रही। जब यह लेखमाला चल रही थी, तभी कई पाठकों और सौराष्ट्र के कुछ संतों की ओर से इस पर विशेष रुचि, और लेखमाला को पुस्तक के रूप में देखने की अभिलाषा व्यक्त हुई

थी। आदर्श श्रावक श्रीयुत मोतीलालजी सा. माँडोत ने तो अनेक बार आग्रह किया, किंतु मैं टालता रहा। मैं चाहता था कि इस लेखमाला का किसी अधिकारी विद्वान द्वारा अवलोकन होकर संशोधन हो जाने के बाद प्रकाशन होना ठीक होगा। इसी विचार से धकाता रहा, किंतु वैसा सुयोग प्राप्त नहीं हो सका। इधर श्री माँडोत साहब का आग्रह चल ही रहा था। मैंने भी सोचा—संशोधन की सुविधा मिलना सरल नहीं है। अतएव प्रकाशन के विचार को मूर्त्त रूप दिया।

उपरोक्त लेखमाला के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन वर्ष १० अंक १० का 'सम्यग्दृष्टि का निर्णय,' वर्ष ११ अंक १७ का 'केवल ज्ञान के समान,' वर्ष ११ अंक ६ से १४ तक की "स्व-पर विवेक" लेखमाला, वर्ष १५ से 'सम्यक्त्व संवर' का कुछ अंश और वर्ष १६ अंक ४, ५, १३, १४ और १५ की प्रश्नोत्तरमाला भाग १ के प्रश्नोत्तर भी लिये हैं। इसके सिवाय 'सम्यक्त्व महिमा' की गाथाएँ और श्लोक, भिन्न अंकों और अन्य साहित्य में से संग्रहित कर के दिये हैं। उन लेखों में उचित संशोधन भी किया है। मैंने अपनी समझ के अनुसार इस विषय को निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी मैं अल्पज्ञ हूँ, मुझ से भूलें हुई होगी। यदि कोई महानुभाव भूल सुझाने की कृपा करेंगे, तो मैं उनका उपकार मानूँगा।

सम्यक्त्व के विषय में मैं अल्पज्ञ क्या लिखूँ। यह कार्य धुरन्धर विद्वानों का है। अधिकारी विद्वान इस विषय में जितना भी लिखें, थोड़ा है। चारित्र, विरति और कथा आदि विषयक साहित्य की अपेक्षा, सम्यक्त्व के विषय में अधिकाधिक

होना था, किंतु हमारे समाज में इस विषय में कोई खास प्रयत्न नहीं हुआ। समकित के ६७ बोल और कुछ बोलों के संक्षिप्त प्रचार के सिवाय इस विषय में विशेष विवेचन युक्त एक पुस्तक भी देखने में नहीं आई। न उपदेशों में सम्यक्त्व के विषय में श्रोताओं को विस्तार से समझाया गया। अतएव यह पुस्तक हमारे स्था० जैन समाज में अपने विषय की पहली ही है। उपयोगिता की दृष्टि से यह पुस्तक धार्मिक पाठ्यक्रम में रखने योग्य है। किंतु परिस्थिति अनुकूल नहीं होने से एवं समाज के कर्णधारों का रुख सर्वथा विपरीत होने के कारण उपेक्षित रहेगी। फिर भी धर्म-प्रेमी एवं परम्परा में श्रद्धा रखनेवाला वर्ग अवश्य ही इससे लाभान्वित होगा, इसमें सन्देह नहीं।

'सम्यक्त्व विमर्श' प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त करते हुए प्रकाशन व्यय दाता उदार महानुभावों से सम्यग्दर्शन द्वारा जाहिर निवेदन किया गया, तो सुश्राविका श्रीमती पतास बाई, मातेश्वरी श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी सा. बोहरा मंड्या (मारवाड़ में पिसांगण) निवासी की ओर से १५०० प्रतियों का व्यय देने की स्वीकृति प्राप्त होगई। मेरा विचार केवल एक हजार छापने का ही था, किंतु सेठ मिलापचंदजी साहब के आग्रह से ५०० विशेष छापनी पड़ी।

श्रीमती पतासबाई उदार हृदया सुश्राविका है। वे व्रत नियम और आचार का निष्ठापूर्वक पालन करती रही हैं। आपकी इच्छा धार्मिक साहित्य प्रकाशन करने के लिए संघ को एक मुश्त रकम प्रदान करने की है। अल्प मूल्य में आगमोक्त साहित्य प्रचार करने के लिए आप अच्छी रकम प्रदान करने

वाली है। आपकी भावना को सफल करने के लिए आपके सुपुत्र श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी साहब सदैव तत्पर रहते हैं। आपकी इच्छानुसार संघ ने—'श्रीमती पतासबाई बोहरा जैन ग्रंथमाला' चालू करने का निश्चय किया है। यह पुस्तक उस ग्रंथमाला का प्रथम रत्न होगी। इसका मूल्य लागत से आधा ही रखा जा रहा है। और जो धर्मबन्धु और बहिने पर्वाधिराज पर व्याख्यान देने जाते हैं, उन्हें तथा वैसे उपयोगीजनों को अमूल्य भेंट देने की व्यवस्था है।

आशा है कि धर्मप्रिय महानुभाव इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

सैलाना (म. प्र.)
मार्गशीर्ष शु० ४ शुक्रवार
वीर सं. २४९३ वि. सं. २०२३
१६-१२-१९६६ ई.

रतनलाल डोशी

विषयानुक्रमणिका~

विषय	पृष्ठ संख्या

संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का २० वाँ रत्न

सम्यक्त्व विमर्श

परमत्थसथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावण्णकुदंसण-वज्जणा, य सम्मत्त-सद्दहणा ॥

–परमार्थ का १ संस्तव–परिचय एवं कीर्तन करना, २ सुदृष्ट–परमार्थ के ज्ञाता की सेवा करना, ३ सम्यक्त्व से पतित की संगति का त्याग करना और ४ कुदर्शन–मिथ्यादर्शनी की संगति का त्याग करना। (उत्तराध्ययन २८)

जीव, बेभान अवस्था में अनन्त काल रहा। अनादि काल से जीव मिथ्यात्व की अवस्था में रहता आया। जीव का अधिकांश काल असंज्ञी अवस्था में ही गुजरा, जिसमें किसी विषय पर विमर्श करने की शक्ति ही नहीं थी। मन के अभाव में वह किसी विषय पर विमर्श कर ही नहीं सकता था। सम्यक्त्व ही क्या, वह मिथ्यात्व के विषय में भी नहीं सोच सकता था।

उसकी मूढ़तम दशा थी। जिस ओघ संज्ञा में लग गया, उसी में लगा रहा। श्रवणेन्द्रिय प्राप्त होने पर श्रवण शक्ति उद्भूत हुई, तो मन के अभाव में श्रवण भी व्यर्थ-सा रहा। जब मनन करने की शक्ति मिली, तो शरीर और इन्द्रियादि तथा कषायादि पर ही विमर्श होता रहा। कुछ आगे बढ़े, तो मिथ्यात्व (अतत्त्व) पर विमर्श होता रहा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि के विषय में ही विचारणा चलती रही। चारों गति में खाना, पीना, संग्रह करना, काम-साधना और प्राप्त का संरक्षण तथा परिवर्द्धन–यही जीव की प्रवृत्ति रही। सिद्धांत है कि चारों गति के जीव–१ आहार संज्ञा, २ भय संज्ञा, ३ मैथुन संज्ञा और ४ परिग्रह संज्ञा में लगे हुए हैं। अर्थ और काम पुरुषार्थ में ही जीव उलझा रहा और इसी विषय में विचार-विमर्श करता रहा। जीव ने धर्म के विषय में सोचा ही नहीं। यदि सोचा भी, तो धर्म के रूप में प्रचलित अधर्म की भूल भुलैया में पड़ गया। मिथ्यात्व को ग्रहण करके अभिग्रहित मिथ्यात्वी बन गया। कभी सम्यक्त्व रूपी सूर्य का प्रकाश पाया ही नहीं। जब अकाम निर्जरा से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की ६९ कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण अत्यंत दीर्घ स्थिति के कर्म खपा दिये और मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर्म अवशेष रहे, तब भव्य जीव ने अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व सूर्य का प्रथम दर्शन किया।

मिथ्यात्व, संसार चक्र में फँसाये रखने वाला है और सम्यक्त्व, मोक्ष के परम सुख प्रदान कर आत्मा को परमात्मा बनाने वाला है। मिथ्यात्व मारक है और सम्यक्त्व रक्षक है।

अतएव सम्यक्त्व की प्राप्ति, संरक्षण एवं दृढ़ीकरण के लिए सम्यक्त्व के विषय में विचार-विमर्श करना अत्यावश्यक है। मिथ्यात्व दशा में तो अर्थ और काम पुरुषार्थ पर ही विमर्श हुआ, परन्तु सम्यक्त्व पाने के बाद अब धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ पर विचार-विमर्श करना है। अनादि काल से आत्मा ने कर्म की शिक्षा ली, किन्तु अब तो धर्म की—कर्म से एकदम उल्टी शिक्षा लेनी है। कर्म की शिक्षा, संसार को दीर्घ से दीर्घतर करने वाली है, तब धर्म की शिक्षा संसार की जड़ काटकर अजर अमर बनाने वाली है।

मिथ्यात्व दशा में स्वार्थ संस्तव था। सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अब परमार्थ संस्तव करना आवश्यक है। मिथ्यात्व में कुदृष्टा एवं स्वार्थ सेवा थी, तब सम्यक्त्व में सुदृष्ट परमार्थ सेवन हितकर है। मिथ्यात्व दशा, कुदर्शनी एवं दर्शन-भ्रष्ट की संगति कराने वाली है, तब सम्यक्त्व, उस कुसंगति का त्याग करवाकर आत्मा को पवित्र होने की स्थिति में लाने वाली है। सम्यक्त्व का काम आत्मा की दिशा बदलकर सही मार्ग का दर्शन करवाना है। अतएव सम्यक्त्व के विषय में विमर्श करना आवश्यक है।

यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता

संसार में जितने भी झगड़े होते हैं, उनमें दृष्टि-भेद ही मूल कारण होता है। चाहे सामाजिक हो, या राज-

नैतिक अथवा धार्मिक। विभिन्न दृष्टिकोण के कारण ही भेद बढ़ते हैं और बढ़ते बढ़ते कलह और युद्ध तक की नौबत आजाती है। संसार में जितने भी वाद हैं, उन सबके मूल में यही कारण कार्य कर रहा है। जबतक दृष्टि-भेद रहे तबतक वर्ग-भेद भी रहेगा ही। कोई चाहे कि 'समस्त दुनिया एक ही विचार की बनजाय,' तो यह केवल 'खयाली पुलाव' ही है। ऐसा न तो कभी हुआ, न होगा ही। जहां एक तरह की परिणति हो, वहां साम्यता हो सकती है। यद्यपि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीवों में भी अध्यवसायों की भिन्नता होती है, तथापि विशिष्ठ क्रियाओं में भेद या लड़ाई झगड़ा नहीं दिखाई देता और जिनके घातिकर्मों का क्षय हो गया है, उनमें भी मतभेद नहीं रहता। सभी असंज्ञी जीव,—शास्वादान के समय को छोड़कर—सदा मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं और सभी नोसंज्ञी नोअसंज्ञी जीव, सम्यग्-दृष्टि ही रहते हैं। दृष्टि-भेद संज्ञी जीवों में ही होता है और मनुष्यों में यह जितना उग्र होता है, उतना अन्य जीवों में नहीं होता। दृष्टि बिगड़ने से विगाड़ और सुधरने से सुधार होता है। जैन दर्शन, धर्म का मूल, दृष्टि सुधार में मानता है। जिसकी दृष्टि सुधर गई, उसका सुधार अवश्य ही होगा, भले ही विलम्ब से हो।

साधारण मनुष्य दूर की वस्तु को देखने के लिए दुर्विन का सहारा लेता है, तभी वह देख सकता है, बिना दुर्विन के नहीं देख सकता। इसी प्रकार हमारे जैसे जीव, शास्त्र रूपी दुर्विक्षण के द्वारा ही अपने लक्ष को भली प्रकार देख सकते हैं।

दुनिया में देखने की वस्तुएँ अनन्त हैं। कोई सुन्दर

वस्तुओं को देखते हैं, तो कोई असुन्दर को। कोई बिगाड़ की बातें सोचते हैं, तो कोई सुधार की। आत्म-सुधार की बातें सोचनेवाले तो बहुत थोड़े होते हैं। दुनियवी बाबतों में विद्वान बने हुए लोग, आध्यात्म, आत्मकल्याण, संवर, निर्जरा, मोक्ष और त्याग विरागादि की बातें सुनकर हँसते हैं और ऐसी बातें करने वालों को—'अकर्मण्य, निठल्ले, प्रतिगामी और सड़े दिमाग' कहते हैं। उनके सोचने के विषय ही लोकानुसारी तथा भौतिक होते हैं, फिर वे संवर निर्जरा और मोक्ष की बातों को पसन्द कैसे करेंगे ?

हमें दुनिया की लोकानुसारी दृष्टियों के विषय में यहाँ विचार नहीं करना है। हमें देखना है कि वे कौनसे विचार हैं जो यथार्थ हो सकते हैं और जिनसे आत्मा पूर्ण सुखी और जन्म मरणादि दुखों से मुक्त हो सकती है। जैन दर्शन उन्हीं विचारों को सम्यग् मानता है, जो सत्य हों और हिताहित का विवेक कराते हों। यों तो साधारणतया सभी जानते मानते हैं कि 'भोजन करने से भूख मिटती है, पानी पीने से प्यास बुझती है, आग जलाती है और कामिनी की संगति से काम जागृत होता है। सिक्के और धातु तथा हीरे मोती के खरे खोटे की पहिचान भी लोग कर लेते हैं। इस प्रकार अनेक विषयों में यथार्थ जानकारी रखते हुए भी हम उन्हें सम्यग्-दृष्टि नहीं कह सकते। जिस ज्ञान से स्व-पर का बोध होता हो, बन्धन और मुक्ति तथा उनके कारणों का ज्ञान होकर हेय ज्ञेय और उपादेय का विवेक होता हो, वही ज्ञान सम्यग् ज्ञान है और उस पर का विश्वास

सम्यग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त जितना भी ज्ञान है, वह अज्ञान रूप है। क्योंकि वह पूर्णानन्द की प्राप्ति में उपयोगी नहीं होता।

सबसे पहले विचारक को अपने आपका ज्ञान करना आवश्यक है। 'मैं कौन हूं, मेरा स्वरूप क्या है, यह शरीर क्या है, दुनिया में दिखाई देनेवाली वस्तुओं का स्वरूप क्या है, क्या मेरे जैसे दूसरे जीव भी हैं, जीवों का स्वरूप कैसा है, यह विभिन्नता क्यों है'।–इस प्रकार विचार करके वह जीव और अजीव पदार्थ का स्वरूप समझता है, साथ ही वह विश्व का स्वरूप भी समझता है। जब उसे मालूम होता है कि जीवों की अधमाधम दशा और उत्तमोत्तम दशा भी होती है। सभी जीव, स्वरूप स्वभाव और शक्ति आदि से समान होते हुए भी विभाव परिणति से प्राप्त हुई बंध-दशा के कारण कोई छोटा तो कोई बड़ा, कोई सुखी, तो कोई दुःखी, इस प्रकार विविध अवस्थाओं का अनुभव कर रहे हैं। जिस प्रकार हवा से उड़ती हुई धूल, कपड़ों पर लगती है, उसी प्रकार मलीन आत्माओं को कर्मरूपी धूल आकर लगती है और वही राग-द्वेष रूपी चिकनाहट का योग पाकर बंधन रूप हो जाती है। (यदि जीव, आस्रव (धूल आने के द्वार) बंद कर दे, तो नई धूल आकर नहीं लगती और सफाई करने पर पुराना मैल छूटकर आत्मा निर्मल हो जाती है। बस यही मुक्तावस्था है।) जीव से लेकर शिव (मोक्ष) तक को पहिचानना और जीव से शिव होने के उपायों पर विश्वास करना ही सम्यक्त्व है) यही यथार्थ दृष्टि है।

भले ही कोई व्यक्ति यह नहीं जानता हो कि 'यह

सिक्का खरा है, या खोटा, भाषा के दोष भी जिसमें रहे हुए हों, जिसका उच्चारण अशुद्ध हो और अनपढ़ हो। उसे यह भी ज्ञान नहीं हो कि अमुक वस्तु स्वास्थ्य के लिए हितकर है, या हानिप्रद। इस प्रकार का लौकिक अज्ञान रखता हुआ भी जीव, सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

(स्व और पर का ज्ञान, स्व-पर संयोग के कारण और उसका शुभाशुभ परिणाम जानना, मुक्तदशा और उसके उपायों को जानकर विश्वास करना ही सम्यग् दर्शन अथवा यथार्थ-दृष्टि है।)

("जिस ज्ञान से संसार हेय और मोक्ष उपादेय माना जाता हो, वही सम्यग् ज्ञान है और उस पर पूर्ण विश्वास हो, वही सम्यग् दृष्टि है")-ऐसा एकान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार माननेवाले भी असम्यग् दृष्टि हो सकते हैं। संसार में ऐसे भी मत हैं, जो संसार को हेय और मोक्ष को उपादेय मानते हैं, फिर भी वे उनका यथार्थ स्वरूप नहीं जानते। कोई विश्वभर में केवल एक ही आत्मा मानते हैं, कोई आत्मा को कुटस्थ (ठोस) एवं अपरिणामी मानते हैं। किन्हीं को मुक्तात्मा का स्वरूप ही ठीक ज्ञात नहीं है। इस प्रकार गलत धारणा से, मोक्ष की इच्छा रखते हुए भी प्राप्त नहीं कर सकते।

एक जापानी किसान ने कभी हाथी देखा ही नहीं था, किंतु उसने सुना अवश्य था कि संसार में 'हाथी' नामका एक विशालकाय प्राणी होता है और वह सवारी के काम में आता है। उसने अपने गांव के मुखिया (पटेल) को पूछा। पटेल

भी अनभिज्ञ था, उसने कह दिया कि हाथी बहुत बड़ा होता है,उसकी टाँगे लम्बी, पीठ पर कुबड़ और मुंह बहुत लम्बा और शरीर से भी ऊँचा होता है। इस प्रकार ऊंट को हाथी बता दिया। किसान ने पटेल के बताये स्वरूप को सत्य मान लिया। एकबार उसके सामने हाथी आ गया, तो भी वह उसे हाथी नहीं मान सका, किंतु ऊँट को देखकर वह खुशी से उछल पड़ा और बोला कि–'बस यही हाथी है। मुझे इसे ही देखना था'। इस प्रकार गलत धारणा बन जाने से जब तक वह भूल नहीं सुधरे, तब तक सही जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती और बिना यथार्थ ज्ञान के वास्तविक वस्तु मिल नहीं सकती। अज्ञानता के कारण काँच के टुकड़े को ही असल हीरा मानकर ठगा जाना असंभव नहीं है। इस प्रकार मोक्ष की इच्छा होते हुए भी यथार्थ स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यह भी एकान्त रूप से नहीं कहा जा सकता कि जीवादि तत्त्वों के भेद प्रभेदों को जानने वाला ही सम्यग् दृष्टि हो सकता है, क्योंकि ऐसे भी जीव होते हैं, जो 'विषय प्रतिभास ज्ञान' या दीपक-सम्यक्त्व वाले होते हैं। वे जानते और प्रतिपादन करते हुए भी श्रद्धा के अभाव में असम्यग्दृष्टि रहते हैं। और ऐसे भी जीव होते हैं जो विशेष रूप से नहीं जानते हुए भी "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"–जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा वह सत्य ही है,–ऐसी श्रद्धा रखते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि जिनेश्वर भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ, कभी असम्यग् वस्तु को भी सम्यग् मान ले, तो

वह उसके श्रद्धा बल के कारण सम्यग् रूप से ही परिणत होती है (आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ. ५) जिस प्रकार सूझते का हाथ पकड़कर अन्धा भी इच्छित स्थान को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानवंत के आश्रित रहा हुआ श्रद्धालु अनपढ़ भी कल्याण साध लेता है।

सम्यक्त्व के पोषक तत्त्व

जब यह मान लिया कि "वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहंत भगवान् मेरे परम-तारक देव हैं, निर्ग्रंथ मुनिवर मेरे गुरु हैं और जिन-प्रणीत श्रुत चारित्ररूप धर्म, मेरा धर्म है और यही सम्यक्त्व है, तो इसको पुष्ट, दृढ़ और उन्नत (क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कराने वाली) बनाने के लिए उन साधनों का अवलंबन लेना ही पड़ेगा, जिनके अवलंबन से आत्मा उर्ध्वगामी होता रहे। जिसकी दर्शन आराधना साधारण–जघन्य कोटी की हो, वह भी यदि आराधना को चालू रखे और छोड़े नहीं, तो अधिक से अधिक पन्द्रह भव करके सिद्ध होता ही है (भगवती ८–१०) इसलिए दर्शनाराधना सतत चालू रहे और हमसे छूट नहीं जाय, इसकी पूरी सावधानी रखनी चाहिए और इसके पोषक आलम्बन का सहारा लेते ही रहना चाहिए। वे प्रशस्त आलम्बन ये हैं,–

परमार्थ का गुण कीर्तन करना, तत्त्व चिंतन, तत्त्वज्ञान वर्धक साहित्य का वांचन (स्वाध्याय) करना, पुनः पुनः मनन

करना। आत्मा का परम अर्थ 'मोक्ष' प्राप्ति का है। मोक्ष (सभी प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त) और अखण्ड अनुपम, अविनश्वर आत्मानन्द की प्राप्ति। इस परमार्थ में प्रीति (संवेग) बढ़ाते रहना, हृदय में उस परम विशुद्ध दशा के प्रति आदर भाव रहे--बढ़ता रहे। वाणी से परमार्थ की प्रशंसा एवं स्तुति हो। मोक्ष, मोक्ष प्राप्त परम विशुद्ध सिद्धात्मा और प्रमाद कषायादि चतुर्गति परिभ्रमणरूप संसार से मुक्त वीतराग जिनेश्वर (भाषक सिद्धों) के प्रति दृढ़ श्रद्धा पूर्वक कीर्तन करते रहना चाहिए। परमार्थ के दाता जिनेश्वर भगवान् हैं। अतएव उनकी स्तुति कीर्तन और स्तवना भी परमार्थ संस्तव है। हमें परमार्थ का ज्ञान जिनेश्वर भगवंतों से हुआ है। ऐसे परमार्थ के दाता की स्तुति करने से हमारी आत्मा में भी वैसे गुणों का विकास होता है। यदि हमें परमार्थ संस्तव करना है, तो पहले परमार्थ को समझना होगा। आजकल परमार्थ के नाम से कई वस्तुएँ चल रही है। नाम तो 'परमार्थ स्तुति' का दिया जाता है, परंतु होती है स्वार्थ स्तुति। संसार त्यागी, निर्ग्रंथनाथ भगवान् से हम धन माँगते हैं, पुत्र माँगते हैं, कुटुम्ब, उच्चपद, निरोगता, आदि अनेक वस्तुएँ माँगते हैं। उनकी परम वीतराग अवस्था का ध्यान नहीं करके बाह्य वैभव, सुन्दरता तथा अतिशयों में उलझ जाते हैं और उन्हीं का आदर करके अपने को परमार्थ संस्तवी होना मान लेते हैं। उनकी बाल क्रीड़ा का वर्णन गाकर, हालरिया ललकार कर जिनभक्ति हो जाना मानते हैं। एक कवि बड़े मोहक ढंग से त्रिशला महा-

रानी के उदयभाव जन्य मनोरथों का वर्णन करते हुए गाता है कि—

"नन्दन नवला मोटा थासो ने परणावशुं, बहुवर सरखी जोड़ी लावशुं राजकुमार, सरखा वेहवाई वेहवाण पधरावशुं, बहुवर पोंखी लइशुं जोइ जोइ ने देदार। हालो हालो हालो हालोरे महारा वीर ने।"

यह तो एक नमूना मात्र है। हमारे समाज में ऐसे कई हालरिये और बालक्रीड़ाओं के पद्य प्रचलित है। खूब बने और खूब प्रचलित हुए। मर्यादा टूटी, तो इतनी असीम हो गई कि हमारे त्यागी संतों के द्वारा "राष्ट्र-स्तुति" झंडा वंदन, युद्ध गीत और वीर रस को जगाकर संघर्ष करने की उत्तेजना देने वाले पद्य भी इस जमाने में बनकर प्रचारित हो चुके हैं। और इस प्रकार के पद्यों को ओघसंज्ञा से "धर्म स्तवन" ही कहते हैं। वास्तव में ऐसे स्तवन, परमार्थ स्तुति नहीं है। यदि परमार्थ स्तुति करना हो, तो पहले शान्त एकान्त स्थान में बैठिये। फिर मन को एकाग्र करके भगवान् अरिहंत का ध्यान करिये। सोचिए कि हम चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में बैठे हैं। प्रभु महावीर अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिलापट्ट (जो एक सिंहासन जैसा है) पर विराजमान हैं। उनके शान्त और प्रसन्न श्रीमुख से शांति-सुधा बरस रही है। उस पवित्र चेहरे पर चिंता, शोक, कषाय, आतुरता आदि रागद्वेषात्मक भावों की एक हल्की-सी रेखा भी नहीं है। यद्यपि ऊपरी शांति आन्तरिक शांति की परिचायक होती है, फिर भी आप इसमें मत उलझिये।

आप उनके पवित्र, निर्मल एवं स्वच्छ हृदय के दर्शन कीजिये। कषाय की कालिमा और विषय की दुर्गन्ध, उस पवित्र हृदय (-विचारों के उद्गम स्थान) में है ही नहीं। उस महान् आत्मा के समस्त प्रदेशों से घातिकर्मों के थर (गाढ़ बन्धन समूह) सर्वथा नष्ट हो चुके। कितनी भव्य, कितनी पवित्र और कितनी श्रेष्ठ आत्मा है वह। यह निर्मलता मुझ में भी आवे, मेरे आत्म-प्रदेश भी वैसे ही स्वच्छ और विशुद्ध बन जायँ। प्रभो! मैं धन-माल नहीं माँगता, पुत्र परिवार नहीं चाहता और उच्च पद अथवा देवेन्द्र की ऋद्धि भी आपसे नहीं माँगता। मैं एक सामान्य वस्तु माँगता हूँ। हे नाथ!

"निज दास जान लीजे, इतनी मया करीजे,
सम्यक्त्व दान दीजे, माधव विनय सुनाई।"

मुझे सम्यक्त्व की-अप्रतिपाति सम्यक्त्व की ही आवश्यकता है। बस यही माँगता हूं प्रभो! आप तो सब को बिना किसी भेद भाव और पक्षपात के सम्यक्त्व ही नहीं-मुक्ति भी प्रदान करते हैं। आपने गौतमादि हजारों साधु-साध्वियों को तार दिया, आनन्दादि लाखों श्रावक-श्राविकाओं को सम्यक्त्व और विरति प्रदान की। मैं पामर तो केवल सम्यक्त्व ही माँगता हूँ। मैं जानता हूं कि आपने तो संसार के समस्त जीवों के हित के लिए प्रवचन रूपी महादान किया। आपका वह महादान आज भी-आंशिक रूप से भी-भव्यात्माओं के लिए उपकारी है। अब तो मेरा ही कर्त्तव्य है कि मैं उसे अपनाउं। माँगना मेरा धर्म नहीं। माँगने से सम्यक्त्व मिलती

नहीं। माँगना तो कमजोरों का काम है। मैं भी तो उन कमजोरों में से ही हूँ और अभी प्राथमिक कक्षा में ही भटक रहा हूं। यदि इस समय इस साधन को नहीं अपनाउँ, तो आगे नहीं बढ़ सकूंगा। प्रभो! सम्यक्त्व रत्न मुझ में मौजूद है, यह आप ही ने फरमाया था, किंतु वह दर्शनमोहनीय के भारी पर्वत के नीचे दबा हुआ है। यह इतना दबा हुआ है कि बिना आपके सहारे के निकल नहीं सकता। निसर्गरुचि (स्वभाव) से अपने आप मिथ्यात्व का पर्वत हटाकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लूं, इतनी योग्यता तो मुझ में नहीं है। आपका सहारा लेकर ही मैं कुछ पा सकूंगा।

परमार्थसंस्तवी, वीतरागता का उपासक होता है, सरागता का नहीं। वह त्याग का पुजारी होता है, भोगका नहीं। प्रभु की उपासना रागद्वेष का नाशकर वीतरागता प्राप्त करने के लिए करता है, संसार से पार होकर मुक्ति लाभ करने के लिए करता है, तभी वह परमार्थ-संस्तव होगा। वीतराग की स्तुति भी यदि रागद्वेष बढ़ाने और वासना की पूर्ति के लिए की जाती है, तो वह जिनेश्वर की स्तुति होते हुए भी "स्वार्थ-संस्तव" होगा।

परमार्थ-संस्तव करने वाला सम्यक्त्व का प्रशंसक होगा, मिथ्यात्व का नहीं। विरति का पक्षकार होगा, अविरति का नहीं। त्याग का पूजक होगा, भोग का नहीं। उसके वचनों से, उसकी कलम से, उसके हृदय से, ऐसी कोई बात नहीं निकलेगी कि जिससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, भोग, आरंभ, परिग्रह

और सावद्यानुष्ठानादि को आत्मा के लिए श्रेयस्कर बताया जा सके।

हमारे लिए परमार्थ में सर्व प्रथम स्थान अरिहंत भगवान् का है, क्योंकि वे परमार्थ के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। वे परमार्थ के जनक सर्जक एवं प्रकाशक हैं। उन्हीं से धर्म एवं तत्त्व का प्रकाश हुआ है। परमार्थ साधना द्वारा वे स्वयं परमार्थमय बन गये हैं। घातीकर्म रहित उस पवित्र आत्मा रूपी सुमेरु पर्वत से, वीतराग वाणी रूप महा-गंगा प्रकट हुई, जो गणधर रूपी कुंड में से होकर इस अवनितल पर बह रही है और भव्य जीवों के पाप रूपी मैल को धो रही है। उस पवित्र वाणी = परमपद और उसकी प्राप्ति का मार्ग दिखाने वाली वीतराग वाणी (तत्त्वज्ञान) का परिचय करना, पठन, श्रवण, मनन और पृच्छा द्वारा हृदयंगम करते रहना तथा परमार्थ के ज्ञाता–ज्ञानियों का सत्संग करते रहना है। इससे सम्यक्त्व की प्राप्ति, स्थिति और वृद्धि होती है। आत्मा के निर्मल स्वरूप (सिद्धावस्था) का ज्ञान और उसकी प्राप्ति के साधन–संवर, निर्जरा में रुचि बढ़ती है। परमार्थ का सतत परिचय रखने वाले के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता जाता है। उसके पतन की संभावना प्रायः नहीं रहती। अतएव जिनागम और जिनागम के अनुकूल शास्त्रों का स्वाध्याय तथा परमार्थ ज्ञाता का सतत परिचय रखते ही रहना चाहिए।

सुदृष्ट परमार्थ सेवन

जिनकी दृष्टि शुद्ध और यथार्थ है, जो परमार्थ के ज्ञाता

और दृढ़ श्रद्धानी है और जो परमार्थ प्राप्ति में सतत प्रयत्न शील हैं, ऐसे आचार्यादि गुणीजनों की सेवा करना।

पतितों और कुदर्शनियों से बचना

उपरोक्त दो साधन आत्मा को उन्नत बनाने वाले हैं। इनसे सम्बन्ध रखने वाले का उत्थान ही होता है। यदि मोहनीय का गाढ़तम उदय हो, तो वह बात अलग है। साधारणतया परमार्थ संस्तव और सेवन करते रहने वाले के लिए पतन के बाह्य निमित्त कारणभूत नहीं होते। जिस प्रकार आरोग्य चाहने वाले को पौष्टिक खुराक लेते रहने पर भी कुपथ्य से बचते रहना आवश्यक है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी आत्मा की आरोग्यता बनाये रखने के लिए, नाशक निमित्तों (कुपथ्यों) से दूर ही रहना चाहिए। इसीलिए प्राणी मात्र के परम हितैषी महर्षियों ने दो प्रकार के पथ्य के बाद दो प्रकार के कुपथ्य से बचने का भी विधान किया है। जिस प्रकार भयानक अटवी में जाते समय [illegible] के लिए सुभटों को साथ रखा जाता है और लुटेरों [illegible] का त्याग किया जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व-[illegible] के लिए मिथ्यात्व रूपी दो प्रकार के लुटेरों [illegible] सावधानी सतत रखनी चाहिए। इनमें [illegible] भ्रष्ट (जैनत्व से च्युत होकर अजैन [illegible] लेने वाला) और दूसरा है कुदर्शनी ([illegible] चय एवं संगति से चेपी रोग [illegible]

लगकर सम्यक्त्व रूपी आरोग्यता के नष्ट होजाने का भय रहता है।

कुदर्शनी से बचना जितना सरल होता है, उतना दर्शन-भ्रष्ट से बचना सरल नहीं होता। कुदर्शनी तो प्रायः पृथक् ही होते हैं। उनकी चर्या और बाह्य परिधानादि भिन्न प्रकार के होते हैं, किंतु दर्शन-भ्रष्ट तो सम्यग्दृष्टि तथा साधु व श्रावक के लिवास में भी रहते हैं और इस रूप में रहते हुए वे सरलता से सम्यक्त्व रूपी रत्न को लूटकर बदले में मिथ्यात्व रूपी पत्थर गले में बाँध देते हैं। साधारण जनता तत्त्व को नहीं जानती। वह वेशादि के कारण भुलावे में आकर उनके वाक्जाल में फँस जाती है और सम्यक्त्व त्याग कर दर्शन-भ्रष्ट होजाती है। इस प्रकार कुदर्शनी के बनिस्बत दर्शन-भ्रष्ट अति भयंकर होता है। इसीलिए कुदर्शनी से पहले दर्शन-भ्रष्ट को बता कर उसकी अति भयंकरता का निर्देश किया है।

इस प्रकार बाधक निमित्तों से दूर रहता हुआ और साधक तत्त्वों के संसर्ग में रहता हुआ भव्य आत्मा, निरन्तर परमार्थ को आत्मा में जगाता रहता है और उन्नत होते होते परमार्थमय बन जाता है।

परमार्थ की छाया में

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में पर (पुद्गल) का संबंध और मिथ्यात्व के दलिकों का अस्तित्व रहता ही है। वे दलिक उदय में नहीं आकर सत्ता में पड़े रहते हैं और उदय प्राप्त प्रदेशोदय

होकर क्षय हो जाते हैं। यदि परमार्थ परिचय और परमार्थ सेवन होता रहे, तथा भ्रष्टदर्शनी से बचते रहें, तो यही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दृढ़ीभूत होते होते क्षायिक-कल्प (क्षायिक तुल्य) हो जाती है और भवान्तर में क्षायिक सम्यक्त्व का कारण वन जाती है। क्षायिक सम्यक्त्वियों के लिए कोई खतरा नहीं है। चाहे जितना जबरदस्त निमित्त हो, लाखों, करोड़ों प्रकाण्ड कुदर्शनी अथवा भ्रष्टदर्शनी भी उस भव्यात्मा के सम्यक्त्व रत्न को नहीं छीन सकते। उनके मिथ्यात्व का जादु उस पर किंचित भी असर नहीं कर सकता। क्योंकि उस भव्यात्मा में मिथ्यात्व के पुद्गल हैं ही नहीं, तो बाहरी मिथ्यात्व उन पर कैसे असर कर सकेगा? उग्र रूप में भयंकर छोंत रोग आसपास फैला हुआ हो, हजारों लाखों मनुष्य रोग के पंजे में बुरी तरह फँसे हों, ऐसे विषाक्त वातावरण में भी कई मनुष्य पूर्णतः निरोग और सुरक्षित रहते हैं। उन्हें रोग लगता ही नहीं। इसका खास कारण यही कि उन मनुष्यों में रोग को पकड़ने, रोग से प्रभावित होने वाले पुद्गल है ही नहीं, तब रोग असर करे तो कैसे? वहां रोग का संहारक प्रहार भी व्यर्थ हो जाता है। वीतरागी को काम की उत्पत्ति नहीं होती, भले ही हजारों इंद्रानियाँ मिलकर मोहित करने का प्रयत्न करे। सोने को कीट नहीं लगता, भले ही उसे कीचड़ में वर्षों तक पड़ा रहने दिया जाय, क्योंकि इन सब में वैसे कारण ही नहीं है। इसी प्रकार जिस भव्यात्मा के आत्म प्रदेशों में से मिथ्यात्व के दलिक सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, उनके लिए खतरे का कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार वासुदेव

और चक्रवर्ती जैसे अद्वितीय महान् योद्धाओं को लाखों शत्रु भी नहीं डिगा सकते, उसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्वी के लिए विश्वभर में कोई भी खतरे का स्थान नहीं है। जो कुछ खतरे हैं, वे क्षयोपशम सम्यक्त्व के लिए ही हैं। जघन्य और मध्यम प्रकार की स्थिति में उस पर खतरे के कारण असर कर सकते हैं और वह उनकी झपट में आकर, अपने अमूल्य रत्न को गँवाकर, बदले में मिथ्यात्व रूपी पत्थर अपना लेता है। इसीलिए परम हितैषी भगवंतों ने खतरों से सावधान और रक्षकों की छाया में रहने का निर्देश किया है।

सम्यग्दृष्टि के कारण

सम्यग्दृष्टि का मूल कारण तो जीव की अपनी सम्यग्-परिणति है। भव्य होना, शुक्ल-पक्षी होना और महामोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति में से ६९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ विशेष स्थिति को क्षय करके मिथ्यात्व की गांठ को तोड़ देना है। अर्थात् अनन्तानुबन्धी चोक और दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियों का क्षयोपशमादि आन्तरिक कारण से सम्यग् दृष्टि प्राप्त होती है। बाह्य कारणों में जिनोपासक के यहां उत्पन्न होना, या जिनोपासक से सम्बन्ध होना—मैत्री होना, सत्संग होना, जिनोपदेश सुनना, निर्ग्रंथ प्रवचन पर मनन करना आदि है। इस प्रकार उपादान और निमित्त की अनुकूलता से सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। ये हैं सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने के कारण।

यों तो अभव्य तथा दुर्भव्य भी अकाम-निर्जरा द्वारा

'यथाप्रवृत्तिकरण' (सम्यग्दृष्टि जैसी प्रवृत्ति) तक आ जाता है, किंतु वह मिथ्यात्व की गांठ को नहीं तोड़ सकता और मिथ्यात्व में ही पड़ा रहता है। कई जीव ऐसे दुर्भागी होते हैं, जो जैन कुल में जन्मादि उत्तम कारणों की अनुकूलता पाकर भी मिथ्यादृष्टि रहते हैं, और दूसरों को मिथ्यात्वी बनने में निमित्त बनते हैं। वे संसार के विविध वाद, मध्यम मार्ग, लौकिक सुधार अथवा जड़ विज्ञान की चकाचौंध पर मोहित होकर दुनियादारी में ही उलझ जाते हैं। भौतिक उपकार को ही मोक्ष मार्ग मान लेते हैं और मोक्ष के वास्तविक कारणों (साधनों) पर अविश्वासी होकर असम्यग्दृष्टि बन जाते हैं।

सम्यक्त्व के बाधक कारणों में आन्तरिक कारण दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय और बाह्य कारण मिथ्यादृष्टियों और उनके साहित्यादि का परिचयादि है। ऐसे बाधक कारण वर्त्त-मान समय में अधिक व्यापक हो रहे हैं। इनसे बचने के लिए सतत सावधानी रखनी चाहिए, जिससे सम्यक्त्व सुरक्षित रहे।

मोक्ष की मान्यता

सभी तत्त्वों की यथार्थ मान्यता ही सम्यग्दर्शन है। इसमें न्यूनाधिकता को किञ्चित् भी स्थान नहीं है। यदि जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर और निर्जरा, इन आठ तत्त्वों पर विश्वास कर लिया और एक मात्र मोक्ष तत्त्व पर विश्वास नहीं किया, तो वह सम्यग्दृष्टि की कोटि में नहीं आ सकता। देव, गुरु और धर्म पर अनुराग रखते हुए और

श्रावक तथा साधु के व्रतों का निर्दोष रीति से पालन करते हुए भी यदि एक मोक्ष तत्त्व पर यथार्थ श्रद्धा नहीं हुई, तो वह असम्यग् दृष्टि ही माना जायगा। कषायों को मंद कर दिया जाय और शुक्ल लेश्या की परिणति अपना कर उच्चकोटि का जीवन बिताया जाय, पर सम्यग् दृष्टि के बिना यह सब प्रथम गुणस्थान में ही गिना जायगा।

अनेकान्त

शंका—आठ तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करते हुए और एक मात्र मोक्ष तत्त्व पर अश्रद्धा या थोड़ी विपरीत श्रद्धा होने मात्र से किसी को मिथ्यादृष्टि मान लेना, अनेकान्तवाद का उल्लंघन नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्तवाद केवल मोक्ष को ही नहीं मानता, वह स्वर्ग गति को भी मानता है, जिन्हें मोक्ष नहीं मानकर स्वर्गीय भौतिक सुखों को ही मानना है, वे तदनुकूल आचरण से स्वर्गीय सुख भी प्राप्त कर सकते हैं। किंतु जिसे मोक्ष प्राप्त करना है, उसे इतर लक्षों को छोड़कर केवल एक ही लक्ष पर कायम रहना पड़ेगा, तभी वह मोक्ष पा सकेगा। व्यवहार में भी सफल मनोरथ उसी के होते हैं, जो कार्य के अनुरूप एक लक्ष को अपनाकर आगे बढ़े। बंबई जाने वाले को दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास आदि स्थानों से लक्ष हटाकर एक बंबई की ओर ही अग्रसर होना पड़ेगा, तभी वह यथास्थान पहुँच सकेगा। अनेक दिशाओं को छोड़कर ठीक

एक दिशा की ओर जाने से ही इच्छित स्थान पर पहुँचा जाता है, उसी प्रकार दूसरी गतियों को छोड़कर, भौतिक लक्ष को त्याकर, मोक्ष का लक्ष अपनाने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यहां सम्यग् एकान्त की ही आवश्यकता है। इसके बिना मुक्ति नहीं होती। सम्यग् एकान्ती ही 'एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं" (उतरा० ३२) प्राप्त कर सकता है। आगमों में भी सम्यग् एकान्त का ग्रहण है। जैसे कि—"आया एगंतदंडे यावि भवई, आया एगंत बाले यावि भवई, आया एगंत सुत्तेयावि भवई"। (सूयग० २-४) सम्यग् एकान्त से अनेकान्त का विरोध नहीं, किन्तु लक्ष में दृढ़ता होकर प्राप्ति की ओर पुरुषार्थ होता है। यदि सम्यग् एकान्त को त्यागकर लक्ष और कार्य में विवेक हीनता अपनाई जाय, तो हानि उठानी पड़ती है। जैसे सेर भर दूध में तोले भर पड़े हुए विष को अनेकान्त दृष्टि से पीने पर दुःखी होना पड़ता है।

अनेकान्तवाद, जिस अपेक्षा से जिसकी अस्ति मानता है, उसी अपेक्षा से उसकी नास्ति नहीं मानता। लक्ष-हीन होकर घानी के बैल की तरह चक्कर लगाये करना, सम्यग्दृष्टि की सीमा से बाहर है। जिसका एक लक्ष नहीं, उसका बेड़ा संसार समुद्र में भटकता ही रहता है। अतएव लक्ष का स्थिर होना नितान्त आवश्यक है और सम्यग् दृष्टि का अंतिम लक्ष मोक्ष का होता ही है।

मोक्ष के साधन

सम्यग्दृष्टि का लक्ष मोक्ष का होता है। वह मोक्ष

को मानता है, तो मोक्ष के साधनों को भी मानेगा ही। बिना साधना के सिद्धि कैसे हो सकती है ? मोक्ष के साधन, बन्ध के साधनों से उल्टे होते हैं। जिन साधनों से बन्धन की प्राप्ति होती है, उनके विपरीत साधनों से बन्धन कटते हैं। इन्द्रियों के शब्दादि विषय बंध के कारण हैं, तो विषयों की इच्छा का निरोध, बन्धनों को काटने का साधन है। इसे 'निर्जरा तत्त्व' कहते हैं। यह निर्जरा तत्त्व ऐसा है जो मोक्ष के बाधक कारणों को नष्ट करता है। एक ओर निर्जरा होती जाय और दूसरी ओर वंध भी होते जायँ, तो मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिए निर्जरा के पूर्व बन्ध के कारणों को रोकना पड़ेगा। बन्धन के कारणों को रोकने का उपाय "संवर" कहलाता है। मिथ्यात्व, अविरति, आदि को हटाकर सम्यक्त्व, विरति आदि संवर के द्वारा नूतन बन्ध को रोकने से बन्धन के नये कारण पैदा नहीं होते। इस प्रकार संवर और निर्जरा (सकाम निर्जरा) ये दोनों तत्त्व, मोक्ष तत्त्व के साधन हैं। जिस प्रकार कुशल वैद्य, रोगी को कुपथ्य से बचाकर, रोग के कारणों को सबसे पहले रोकता है और फिर पुराने रोग को दूर करने की दवा देता है, उसी प्रकार संवर तत्त्व, बंध के नूतन कारणों को रोकता है और निर्जरा तत्त्व, पुराने वंधन काटकर मुक्ति प्रदान करता है।

तत्त्वज्ञान की वैज्ञानिकता

यदि हम विचार पूर्वक देखें, तो जैन धर्म का तत्त्व-निरूपण बिलकुल वैज्ञानिक दिखाई देगा। जैसे-प्रथम जीव

तत्त्व है, इस जीव तत्त्व से सम्बन्धित ही दूसरे आठ तत्त्व हैं। जीव तत्त्व में एकेन्द्री से लगाकर अनिन्द्रिय और नारक से लगाकर इन्द्र अहमिंद्र और सिद्ध तक के जीव हैं। जीवों की शुभाशुभ परिणति के कारण ही कर्माश्रव होता है और पुण्य पापरूप फल देने वाला बन्ध होता है। इसी से तो जीव, नरक और निगोद जैसे दुःख और इन्द्र अहमिन्द्र जैसे सुख पाता हुआ जन्म मरण करता रहता है। चारों गति में भटकने वाले जीव, अपनी शुभाशुभ परिणति से कर्म पुद्गल को अपनाकर शुभाशुभ बंधन से अपने को बाँध लेते हैं और उसके परिणाम स्वरूप विविध दशा को प्राप्त होकर चतुर्गति रूप संसार में भटकते रहते हैं। यह जीव, लोक के सभी आकाश प्रदेशों में जन्म-मरण कर चुका। अनन्तानन्त कर्म वर्गणाओं को बांधकर छोड़ चुका और पुनः २ निरन्तर बांध छोड़ करता रहा। औदारिक वैक्रेय, तेजस और कार्मण शरीर अनन्त बार पा लिया। कोई २ जीव तो आहाराक शरीर भी पा चुके। इस प्रकार छः तत्त्वों में जीव, अनादिकाल से बना रहा। इन छः तत्त्वों से आगे बढ़ कर सातवें आठवें तत्त्व में जो प्रवेश करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और सम्यग्चारित्री होते हैं। सम्यग्दृष्टि यह समझ लेता है कि जीव मैं भी हूं और मुक्तात्मा सिद्ध भगवान् भी जीव हैं। मेरे और उनके बीच इतनी महान् विषमता होने का कारण मेरा अजीव के साथ शुभाशुभ सम्बन्ध है। इस विषमता को मिटाकर उनके समान बनने के लिए मुझे सम्बन्ध के कारणों को रोकने रूप संवर तथा पुराने बन्धनों को काटने

रूप निर्जरा का आश्रय लेना ही पड़ेगा, तभी मैं मुक्त होकर अंतिम तत्त्व को प्राप्त कर सकूंगा–सिद्ध हो सकूँगा। ऐसा दृढ़ विश्वास ही 'सम्यग्दर्शन' है। इस प्रकार की विचारणा और श्रद्धा रखने वाला सम्यग्दृष्टि है।

हम इस विषय को संक्षेप में इस प्रकार भी समझ सकते हैं;–

सम्यग्दृष्टि वही–जो मोक्ष को यथार्थ रूप में माने। जो मोक्ष को मानेगा, वह मोक्ष के साधनों को भी मानेगा और बंध के कारणों को भी माने ही गा। यदि बंध नहीं माने, तो मोक्ष किसका? और साधना की जरूरत ही क्या? इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व की श्रद्धा होनी ही चाहिए।

आस्तिकता

दुनिया में जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, वे पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क और पुनर्जन्म को मानते ही हैं। कोई मोक्ष को भी मानते हैं। इसीलिए वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। इस आस्तिकता में प्रत्येक का तत्त्व निरूपण भिन्न भिन्न प्रकार का है। सब अपने अपने ढंग से प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन उसी को पूर्ण आस्तिक और क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि) मानता है– जो नव तत्त्वों में यथार्थ श्रद्धा रखता हो।

एक आचार्य ने कहा है कि कितने ही मिथ्यादृष्टि ऐसे होते है, जिनकी आठ तत्त्वों में तो श्रद्धा है, किन्तु मोक्ष तत्त्व में श्रद्धा नहीं है। वह साधु के योग्य उच्च चारित्र पालता

है और उसके फल स्वरूप वह ग्रैवेयक में अहमिन्द्र भी बन जाता है, फिर भी मिथ्यादृष्टि ही रहता है। क्योंकि उसका विश्वास मोक्ष में है ही नहीं। इसलिए उसकी साधना भी मुक्ति प्रदायक नहीं बनती।

"मोक्ष है भी या नहीं ? यदि हो भी, तो उसमें धरा ही क्या है ? न खाना न पीना, न ऐश न आराम, न सेवक न सेव्य, फिर रखा ही क्या है–ऐसी मुक्ति में, जहाँ बुतकी तरह एक स्थान पर ही चिपके रहते हैं। ऐसी मुक्ति यदि हो, तो भी किस काम की ?" इस प्रकार आत्मिक पूर्ण आनंद के प्रति अविश्वासी बनकर मिथ्यादृष्टि रहते हैं। जिस उग्र चारित्र के बल से श्रद्धाशील श्रमण, मुक्ति लाभ करते हैं, उसी प्रकार के उग्र चारित्र को मात्र कुश्रद्धा के चलते मिथ्यादृष्टि जीव, नाशवान् एवं अनित्य पोद्गलिक सुखों में समाप्त कर जन्म मरण के चक्कर में उलझा ही रहता है। मोक्ष वही पाता है जो उसमें यथार्थ श्रद्धा रखता है।

सम्यग्दृष्टि कौन

शंका–सम्यगदृष्टि तो वह होता है जिस में क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं हो, जिसकी वासना मर चुकी हो, जो शत्रु और मित्र पर समान भाव रखता हो। आप तो श्रद्धा गुण में ही सम्यग् दृष्टि बता रहे हैं, यह किस प्रकार सत्य हो सकता है ?

समाधान–जिनकी कषायें और विषय वासना मर चुकी

है और जो वीतराग बन चुके हैं, वे तो सम्यग्दृष्टि हैं ही, किंतु उन्हीं को सम्यग्दृष्टि मानकर दूसरों में सम्यक्त्व का अभाव मानना मिथ्या है। क्योंकि सम्यक्त्व चौथे गुण स्थान से प्रारंभ होती है, जहां विषय, कषायादि का अस्तित्व है। आप जो बता रहे हैं, वह स्थिति तो दसवें से आगे के गुणस्थानों में होती है।

शंका–यदि यों माना जाय कि आत्मिक दृष्टि वाला सम्यग् दृष्टि और पौद्गलिक दृष्टि वाला मिथ्यादृष्टि, तब तो ठीक है न ?

समाधान–इसमें भी एकान्त बात नहीं है। चारित्र मोहनीय के उदय से जीव, भोगरुचि और परिग्रह रुचि वाला होकर भी सम्यग्दृष्टि रह सकता है। चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय होते हुए भी सम्यग्दृष्टि कायम रहती है।

शंका–तीव्र कषाय वाले प्राणी तो मिथ्यादृष्टि ही होते होंगे ?

समाधान–ऐसा एकान्त कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि महाआरम्भ महापरिग्रह और तीव्र कषाय के सद्भाव में भी सम्यग्दृष्टि हो सकती है, ऐसा दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के मूल पाठ में लिखा है। सम्यग्दृष्टि साथ लेकर छठी नरक तक जा सकते हैं और सातवीं नरक में तीव्र कृष्ण लेश्यावाले नारक में भी सम्यक्त्व पाई जाती है। दूसरी ओर मन्द कषाय वालों में भी मिथ्यादृष्टि हो सकती है। पाँचवें स्वर्ग के किल्विषि देव,

पतली कषायों वाले और शुक्ल लेश्या वाले होते हैं, फिर भी वे मिथ्यादृष्टि हैं। उनसे भी बढ़कर ऊपर की ग्रैवेयक के देव, अधिक मन्द कषाय और विशेष शुद्ध शुक्ल लेश्या वाले होते हैं, किंतु उनमें मिथ्या दृष्टि भी होते हैं। अतएव कषायों की तीव्रता मंदता पर भी सम्यग्दृष्टि का आधार नहीं है। कृष्ण लेश्या वाले जीवों में भी सम्यग्दृष्टि होती है और शुक्ल लेश्या वाले जीवों में भी मिथ्यादृष्टि होती है।

शंका–फिर अनन्तानुवन्धी कषाय का अर्थ क्या है ?

समाधान–जो कषाय सम्यक्त्व गुण का घात करे अथवा सम्यग्दर्शन से वंचित रखे, वह अनन्तानुबंधी कषाय होती है। वह मंद भी हो सकती है और तीव्र भी।

परीक्षक या अन्धविश्वासी ?

शंका–परीक्षा में जो खरा उतरे उसे मानना सम्यग्दृष्टि है, या अन्धविश्वास से ही दूसरों की बात मान लेना सम्यग्-दृष्टि है ?

समाधान–परीक्षा करना बुरी बात नहीं, किन्तु परीक्षा करने की योग्यता भी होनी चाहिए। संसार के सभी मनुष्य उदय-भाव की विचित्रता के कारण भिन्न २ दृष्टिकोण रखते हैं। एक ही वस्तु के विषय में कई प्रकार के मतभेद देखे जाते हैं। खान-पान में, रहन-सहन में, बोल-चाल में और अन्य व्यवसाय में रुचि भिन्नता प्रत्यक्ष देखी जाती है। प्रयेक की रुचि और विश्वास के अनुसार सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं हो

सकता। सम्यक्त्व का कुछ एक रूप तो होना ही चाहिये। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र का जैसा भी हो, एक ही प्रकार का आकार प्रकार है, किंतु दुनिया उन्हें विविध रूपों में मानती है। एक हीरे का मूल्य अनेक जौहरी, दृष्टि-भेद के कारण न्यूनाधिक आंकते हैं, जब कि वह किसी निश्चित मूल्य का ही है। इसी प्रकार परीक्षकों की विभिन्न मतियों के अनुसार सम्यक्त्व का रूप नहीं बन सकता। वह जैसी है वैसी ही रहने की। तर्क-जाल में फँसाकर मनुष्य, किसी को धोका दे सकता है और खुद भी धोका खा सकता है, परन्तु वास्तविकता को तो तर्क-जाल भी नहीं बदल सकती।

विश्वास की व्यापकता

अन्ध विश्वास में सारा जगत् ही पड़ा हुआ है। इससे मुक्त कौन रहा ? सूझते पर विश्वास करके प्रगति करनेवाला अन्धा, इच्छित स्थान पर पहुँचता भी है और भटक भी जाता है। जिस पर विश्वास करे, वह ईमानदार प्रामाणिक और योग्य है, तो अन्धे को पार लगा देता है और बेईमान तथा लफंगा हो, तो लूटकर भूलभुलैया में फँसा देता है।

रोगी, वैद्य से अपना उपचार करवाता है, तो उस पर विश्वास--अंध विश्वास करता ही है। दवा भी विश्वास रखकर ही लेता है। जलयान, वायुयान और रेलगाड़ी में इसी विश्वास से बैठता है कि यह हमें सकुशल इच्छित स्थान पर पहुँचा देगी। भोजन करता और दूध पीता है, तो रसोइये पर विश्वास कर के

ही पीता है कि 'इसमें कोई गरबड़ी नहीं है', फिर भले ही वह विषमिश्रित निकल जाय। चाँदी, सोना, हीरे, मोती आदि की परीक्षा नहीं जाननेवाले करोड़ों लोग, किसी दूसरे के विश्वास पर ही उन्हें खरा मानकर लेते हैं। विष किस प्रकार मारक होता है, इसकी परीक्षा किये बिना ही उसे मारक मानकर लोग दूर ही रहते हैं। इस प्रकार हजारों काम अन्ध-विश्वास से ही चलते हैं, तब सम्यक्त्व के स्वरूप के विषय में, वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के बताये स्वरूप पर विश्वास नहीं करके स्वतः की बुद्धि पर ही भरोसा करना कैसे ठीक होगा? हम अल्पज्ञ इस अरूपी आत्मिक तत्त्व को किस प्रकार यथार्थ रूप में प्राप्त कर सकते हैं? वास्तव में अपनी मति को ही पूर्ण समर्थ मानकर सर्वज्ञों के सिद्धांत की उपेक्षा करना, अपने को धोके में डालना है।

यदि परीक्षा करनी है, तो सम्यग् रीति से करनी चाहिए। यदि सुज्ञ परीक्षक, संसार के भिन्न भिन्न मतों और उनके शास्त्रों को देखे और उनके आराध्य की दशा पर विचार करे, तो उसे अपना आराध्य चुनने में सरलता हो सकती है।

आराध्य की परीक्षा

वही आराध्य सर्वोत्तम है जो राग-द्वेष से रहित हो। भयंकर कष्ट देने वाले, महान् अत्याचारी और अनाचारी पर भी जो क्रुद्ध नहीं होता है, जो उपासकों पर प्रसन्न होकर उनका भला करने की प्रतिज्ञा नहीं करता, वही वीतराग है। ऐसे वीतरागी की सम्यग् आराधना ही जीव को वीतरागी

बनाकर सुखी कर सकेगी। दुनिया में दिखाई देनेवाले अन्य उपास्य, राग द्वेष और कनक-कामिनी के पाश में बंधे हुए हैं। कई अज्ञान के अन्धकार में भटक रहे हैं। वीतरागता के दर्शन सिवाय जिनेश्वरों के अन्य कहीं नहीं हो सकेंगे। जिनेश्वर से भिन्न ऐसा एक भी देव नहीं—जो जिनेश्वरों की वीतरागता की बराबरी कर सके। सर्वज्ञता के प्रमाण आज भी जिनेश्वरों के प्ररूपित आगमों में मिल सकते हैं। जिस बात को संसार का कोई भी व्यक्ति, देव अथवा विशिष्ठ पुरुष नहीं बता सका, उन बातों को बतानेवाले जिनेश्वरदेव ही थे। जैसे कि:—

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, परमाणु, पुद्गल के वर्णादि, भाषा का शीघ्र ही लोकव्यापी हो जाना, परमाणु पुद्गल का एक समय में ही असंख्यात योजन लांघकर एक लोकान्त से दूसरे लोकान्त में पहुँच जाना, पृथ्वी, अप, तेजसादि स्थावरों में जीव होना, जीवों के भिन्न २ भेद और कर्मों के भेदानुभेद, ये सब विशेषताएँ जैनधर्म की ही है। निष्पाप और निर्दोष जीवन बिताकर आत्म कल्याण साधने की विधि, जैसी निर्ग्रन्थ प्रवचन में है, वैसी अन्यत्र कहाँ है? इन बातों पर विचार करनेवाला यदि कुतर्क जाल से वंचित रहे, तो इसके मूल उपदेशक को सर्वज्ञ मानेगा ही।

हमारे देव वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, इसीसे तो उन्होंने ऐसे तत्त्वों और रहस्यों को प्रकट किया कि जो साधारण मनुष्यों से सदा अदृश्य रहे और जिसे जगत् का कोई भी 'देव' संज्ञक व्यक्ति नहीं बता सका। उनका

बताया हुआ निर्ग्रंथ जीवन भी कैसा अनुपम ? कितना पवित्र कि जिसकी बराबरी दुनिया का कोई भी शास्त्र नहीं कर सकता। पेट पूर्ति के लिए आहारादि लेने की विधि भी कितनी निर्दोष ? देनेवाला उच्च भाव पूर्वक देते हुए और सामग्री निर्दोष होते हुए भी यदि दाता, अचानक, अनजानपने से, किसी सचित्त वस्तु को छु ले, तो वह उनके लिए अग्राह्य हो जाती है। यदि वह अग्नि से सम्बन्धित हो, तो नहीं ली जाती। दाता ने पात्र साफ करने के लिए यदि फूँक लगा दी, या उसे सचित्त पानी से धो डाला, तो वह अग्राह्य। प्रसवकाल के निकट गर्भवती अथवा बच्चे को दूध पिलाती हुई से भी नहीं लिया जाता। इन सब नियमों के पीछे मुख्यदृष्टि अहिंसा की रही है। ऐसी कौनसी परम्परा है कि जिसमें स्थावर जीवों की रक्षा का ध्यान दिया हो, उनकी हिंसा नहीं होजाय, उन्हें छु कर कष्ट नहीं पहुँचाया जाय, इसकी सतत् सावधानी का उपदेश दिया हो। निर्ग्रंथों को भूखा प्यासा रह जाना मंजूर, परंतु स्थावर जीवों को स्पर्शते हुए दिया जाने वाला निर्दोष भोजन लेना मंजूर नहीं। अहिंसा के पालन में इतनी जागरुकता अन्यत्र कहाँ है ?

त्याग, विरति, तप, संयम, अहिंसादि और विषय कषाय –राग-द्वेष को नष्ट करके वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर शाश्वत सुख को प्राप्त करने वाले उत्तम नियम भी इस निर्ग्रंथ प्रवचन में हैं, वैसे नियम अन्यत्र नहीं है।

इस प्रकार यदि हम दूसरे मतों से जैनमत की सम्यग् परीक्षा करें, तो वह सर्वोपरि ही सिद्ध होगा।

बिना त्याग के भी सम्यक्त्व ?

शंका-यदि सम्यग्दृष्टि होकर भी विषय कषाय में उलझे रहे, भोग रोग में फँसे रहे, लड़ाई झगड़े करते रहे, तो सम्यग्दृष्टि में और मिथ्यादृष्टि में अंतर ही क्या है ?

समाधान-अन्तर, समझ और श्रद्धा का है। आपको यह समझ लेना चाहिये कि 'मोहनीय कर्म' के दो भेद हैं,-१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्र मोहनीय। जिसके दर्शनमोहनीय का उदय होता है, उसके चारित्र मोहनीय का उदय नियम से होता ही है। किंतु जिसके चारित्र मोहनीय का उदय होता है, उसके दर्शनमोहनीय का उदय होता भी है और नहीं भी होता। दर्शनमोहनीय का जिसके क्षयोपशम हो, उसके चारित्र मोहनीय का उदय जोरदार एवं तीव्र रूप से भी हो सकता है, और तीव्रतर भी हो सकता है। जैसे-भवनपत्यादि सम्यग्दृष्टि देव, सम्यग्दृष्टि नारक, श्री कृष्ण तथा श्रेणिक जैसे मनुष्य। नारक और देवों के तो चारित्र मोहनीय का उदय भवपर्यन्त रहता ही है और कई मनुष्यों के भी रहता है। श्री कृष्ण के सत्यभामादि रानियें होते हुए भी भोग लालसा बनी रही और रुक्मिणी की ओर ललचाये तथा युद्ध किये। उनकी सम्यक्त्व की कसौटी वहीं हुई कि जब पटरानियों ने महाभिनिष्क्रमण करना चाहा, तो उन्हें रोका नहीं। अपने हाथों से महोत्सव पूर्वक प्रव्रजित कराया। भोगविलास, राज्य संचालन और युद्धादि में संलग्न होते हुए भी अन्तर में तो यही दृढ़ अभिप्राय कि यह सब खोटा है-दुख दायक है; अधःपतन का मार्ग है। यदि सत्य है, तथ्य है, परम सुख का मार्ग है, तो एक मात्र मोक्ष मार्ग ही है।

जिस प्रकार इज्जतदार व्यापारी, व्यापार करते हुए हर समय अपनी इज्जत और प्रतिष्ठा का ध्यान रखता है। वह इसके लिये न तो जाहिर उद्घोषणा करता है, न 'इज्जत, इज्जत' यों रटन करता रहता है। वह दूसरे व्यापारियों से बातचीत करता है। लेने वाले से लेता है, देने वाले को देता है। ग्राहकों को समझाकर पटाता है, कमाता है, खोता है, फिर भी हरदम सावधानी रखता रहता है कि कहीं मेरी इज्जत को तनिक भी ठेस नहीं लग जाय। पनिहारी अपने सिर पर दो-दो और तीन तीन कुम्भ रखकर चलती है, रास्ते में मिलने वाली से हँस हँस कर बातें भी करती है, कभी किसी से लड़ बैठती है, बच्चों को धमकाती है, बड़ों-बूढ़ों की लाज करती है, इतना सब होते हुए भी वह अपने सिर पर के जल के घड़ों की ओर से बे-खबर नहीं है। इसी प्रकार तीव्र चारित्र मोहनीय के उदय से सम्यग्दृष्टि, आरम्भ परिग्रह और भोगविलास में रहा हुआ तथा काषायिक परिणति युक्त होकर भी मिथ्यात्व से वंचित रह सकता है।

सम्यग्दृष्टि का आयु-बन्ध

शंका—सम्यग्दृष्टि युक्त और चारित्र मोहनीय के उदय से प्रभावित मनुष्य, वैमानिक देव का ही आयुष्य कैसे बाँध सकता है, जब कि उस आत्मा पर चारित्र मोहनीय का जोर-दार प्रभाव है और उससे उसकी रुचि विषय वासना की ओर बढ़ी हुई है ?

समाधान—मिथ्यात्वोदय का अभाव कोई मामूली वस्तु

नहीं है। जब मिथ्यात्वी–दर्शन और चारित्र मोहनीय के उदय वाला भी, वैमानिक देव हो सकता है, तो सम्यग्दृष्टि हो उसमें बाधा ही क्या है ? यदि वैज्ञानिक ढंग से सोचें, तो ऐसे प्राणी के हृदय में सम्यक्त्व का संस्कार होने के कारण सदैव ऐसी धारणा बनी रहती है कि 'मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह ठीक नहीं है। मेरी आत्मा के लिए हितकर और सुखदायक नहीं है। खरी शाँति देने वाला तो त्याग ही है–भोग नहीं, विरति ही है–अविरति नहीं, संवर ही है–आश्रव नहीं, मोक्ष ही है--संसार नहीं। जिस दिन इस भोग रूपी रोग से मुक्त होकर त्याग के मार्ग पर चलूँगा, तभी मैं सन्मार्ग पर लगूँगा और उसी से मुझे परमानंद की प्राप्ति होगी।' इस प्रकार का अभिप्राय जिसके हृदय में बना रहे, उसकी गति नहीं बिगड़ सकती। प्रथम-श्रेणी के राजबंदी को कैद में खान-पानादि की सुविधा (घर से भी ठीक) होते हुए भी वह अपने को बंदी मानता है। साधारण कैदियों से (--जिनसे कठोर परिश्रम कराया जाता है) उस प्रथम श्रेणी के राजबन्दी की स्थिति बहुत अच्छी होती है। साधारण कैदियों को उसका काम करना पड़ता है। साधारण वन्दियों की दृष्टि में वह प्रथम श्रेणी का राजबंदी सुखी है। फिर भी उस बंदी का मन कैद में प्रसन्न नहीं रहता। वह आजादी को ही उत्तमोत्तम मानता है और आजाद होने की कामना रखता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की दशा होती है। यद्यपि उसके अशुभ लेश्याओं का उदय होता है, किन्तु वह ऐसा होता है कि जिससे नीच गति का आयु नहीं

बन्धता। अशुभ लेश्या का उदय एक प्रकार की झलंक के समान--ऐसा होता है कि जिससे नीच गति के योग्य बन्ध की सामग्री संग्रहित नहीं होती। हां, जिसके सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व ही अन्य गति का आयुष्य बँध गया है, उसके परिणाम उतने अशुभ हो सकते हैं।

कुछ ऐसे प्राणी भी होते हैं--जो सम्यक्त्व साथ लेकर छठी नरक में जाते हैं † जिस समय वे छठी नरक में जाते हैं, उस समय से पूर्व ही उनमें तीव्रतर कृष्ण लेश्या के भाव आ ही जाते हैं, क्योंकि जिस स्थान पर वे जाते हैं, उसके योग्य लेश्या, मृत्यु के अन्तर्मुहूर्त पहले आ ही जाती है। निश्चय ही आ जाती है। अब विचार करिये कि छठी नरक में जानेवाले के भाव कितने कलुषित--कितने तीव्रतर--अशुभतर होंगे? फिर भी सम्यक्त्व रहती है और सातवीं नरक में तीव्रतम कृष्ण लेश्या होते हुए भी सम्यक्त्व रह सकती है ‡। सम्यक्त्व अवस्था में नीच गति का बंध नहीं होता, यही सम्यक्त्व का प्रभाव है, किन्तु नीचगति में जाने वाले के सम्यक्त्व होती ही नहीं--ऐसा मानना गलत है।

तीव्र कषायी भी सम्यग्दृष्टि ?

शंका--यदि तीव्र कषाय में अनन्तानुबंधी नहीं होता, तो

† भगवती सूत्र श. १३ उ. १

‡ अशुभ लेश्या में सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होती, प्राप्त तो शुभ लेश्या में ही होती है, किंतु प्राप्ति के बाद अशुभ लेश्या आजाय तो भी सम्यक्त्व रह सकती है।

सूत्र में बताया है कि अनन्तानुबंधी कषाय तीव्र होकर जीवन पर्यन्त रहती है, इसका क्या समाधान होगा ?

समाधान—यह स्वरूप, कषाय के उस उत्कृष्ट स्थान को सूचित करता है—जो जीवन पर्यन्त रहे, उसे छोड़े ही नहीं और उसी में जीवनभर लगा रहे। जिसके अस्तित्व से आत्मा का खटका भी नहीं रहे अपने हिताहित का ज्ञान एकदम भुला दे, तो वह अनन्तानुबंधी कषाय होती है। बहुत-से ऐसे प्राणी होते हैं कि जिन्हें उग्ररूप में क्रोध आता है, किन्तु थोड़ी देर बाद शांत भी होजाता है, तो उन्हें अनन्तानुबंधी का उदय कहना कदाचित् साहस ही होगा। महाराजा चेटक को संग्राम में अपने प्रतिपक्षी कालिकुमार आदि पर आया हुआ क्रोध,साधारण नहीं था। उस समय की उनकी मानसिक स्थिति का पता निरयावलिका सूत्र के निम्न मूलपाठ से लगता है।

"तए णं चेडए राया कालंकुमारं एजमाणं पासइ, काले एजमाणे पासित्ता आसुरुत्ते जाव मिसिमिसे-माणे धणुं परामुसई"

'जाव' शब्द से 'रुट्ठे कुविए चंडिक्किए' विशेषण भी ग्रहण करने चाहिए, अर्थात् वे क्रोध की उग्रता में धमधमा रहे थे। उस क्रोधावेश में ही उन्होंने कालकुमार को बाण मारकर मौत के घाट उतार दिया था। इस प्रकार के उग्र-क्रोधी को क्या देशविरत श्रावक माना जा सकता है ? हां, क्योंकि उनका यह उग्र-क्रोध भी अपने अपराधी पर है। वह अनन्तानुबन्धी तो ठीक, पर अप्रत्याख्यानी की सीमा को भी तोड़नेवाला

नहीं है । उनका यह क्रोध, थोड़े समय टिकने वाला है । युद्ध क्षेत्र छोड़ने पर उनके चेहरे पर क्रोध की रेखा भी नहीं रही । इसके पूर्व भी उन्हें अपनी आत्मा का और व्रत का ध्यान था ही । अतएव उग्र क्रोधावेश के समय भी वे सम्यग्दृष्टि माने जा सकते हैं, भले ही उनमें उस समय भावरूप से कृष्ण लेश्या विद्यमान हो । सम्यग्दृष्टि में छहों लेश्याएँ होती है ।

दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६ में ऐसे सम्यग्दृष्टियों का भी वर्णन है जो विषय कषाय और पाप-पंक में फँसे हुए हैं । वहां मूलपाठ में लिखा कि–

"से भवइ महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे, अहम्मिए, अहम्माणुए ... जाव उत्तरगामिए नेरइए सुक्कपक्खिए आगमेस्साणं सुलभबोहिए यावि भवई । से तं किरियावाई ।"

इस प्रकार के महान् इच्छावाले, महान् आरंभ और परिग्रह वाले अधार्मिक और अशुभ परिणति वाले को भी मूलपाठ में– 'किरियावाई, आहियवाई आहियपन्ने, आहियदिट्ठी और सम्मावाई' आदि विशेषण से सम्यग्दृष्टि माना है और वह मरकर उत्तरदिशा की नरक में जाता है । इसमें से कोई २ ऐसे भी होते हैं कि अनन्तकाल, अनन्त अवसर्पिणी उत्सर्पिणिरूप अर्द्ध 'पुद्गल-परावर्त्तन' काल तक संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त जन्म मरण करते रहते हैं, किंतु एक बार प्राप्त हुआ सम्यग्दर्शन, अन्त में उन्हें मोक्ष पहुँचा ही देता है ।

शंका–यदि यह माना जाय कि जिस समय उग्र क्रोधादि

हो, उस समय अनन्तानुबंधी कषाय का उदय, और जिस समय मन्द कषाय हो उस समय क्षयोपशम। वैसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी तो एक जीवन में हजारों बार आ जा सकती है ?

समाधान--यदि ऐसा मानोगे, तो ग्रैवेयक के अहमिन्द्र में–जो मिथ्यादृष्टि भी हैं, मन्द कषाय के कारण अनन्तानुबन्धी कषाय से रहित ही मानना पड़ेगा और असोच्चा केवली होने के पूर्व उन मिथ्यादृष्टि तापसों को (–जिनकी कषायें बहुत ही उपशान्त थीं और जो विषय भोगादि से रहित तथा विभंगज्ञानी थे) सम्यग्दृष्टि मानना पड़ेगा। तथा उन इन्द्रों को जो पल्योपम और सागरोपम तक राग-रंग, नाटक और भोगविलास में फँसे रहते हैं–मिथ्यादृष्टि मानना पड़ेगा ? किंतु ऐसा मानना संगत नहीं होगा। अनन्तानुबन्धी का अर्थ, प्रज्ञापना सूत्र के 'कषाय' नामक १४ वें पद की टीका में **'सम्यग्दर्शन गुण की विघातक'** किया है और पद २३ में **'अनन्त जन्म का अनुबन्ध कराने वाली'** किया है। इसका दूसरा नाम **'संयोजना'** भी बताया है, जिसका अर्थ है–**अनन्त जन्म मरण में जोड़ने वाली।'** तात्पर्य सब एक ही है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का वमन होने के बाद अंतर्मुहूर्त में ही पुनर्ग्रहण हो सकता है, तथा एक जीवन में अधिक से अधिक ९००० बार आ जा सकती है–यह सही है। और किसी-किसी के लगातार ६६ सागरोपम से भी अधिक काल तक रह सकती है। परंतु इस आने जाने की पहिचान छद्मस्थ से होना सम्भव नहीं है और न इसके उपरोक्त लक्षण ही निश्चित है।

सम्यग्दृष्टि अबन्धक ?

शंका–यह भी कहा जाता है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव, पाप पुण्य कुछ भी नहीं करता। वह अपने ज्ञान भाव में ही रहता है। बाहरी क्रियाएं जो होती है, उससे निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं, क्या ऐसा मानना उचित है?

समाधान–यदि यह बात अकषायी जैसे महान् एवं सर्वोत्तम केवलज्ञानी की अपेक्षा से कही जाय, तो उचित हो सकती है, लेकिन सयोगी केवली को भी इर्यापथिकी क्रिया का दो समय का बन्ध तो होता है। सर्वथा अबन्धावस्था तो शैलेशी और सिद्ध जैसी महान् आत्माओं की ही है। एवंभूत नय की अपेक्षा से ही यह संगति बैठती है, अन्यथा गलत ठहरती है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव, सरागी भी होते हैं, कषायी, प्रमादी और अविरत भी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि केवल मिथ्यात्व के पाप से वंचित रहता है। अविरति उसके उदय में ही है। फिर उसे बंध रहित कैसे माना जाय? अप्रत्याख्यानी चोक के उदय से उसकी आत्मा प्रभावित है, तभी तो वह अविरत माना गया। देशविरत के अशुभ परिणति भी होती है और सर्वविरत–छठे गुणस्थानी श्रमण के भी प्रमाद के चलते बन्ध होता है, ऐसी दशा में अविरत सम्यग्दृष्टि को वन्ध रहित कौन मानेगा? चतुर्थ गुणस्थान को वन्ध रहित और केवल निर्जरा करनेवाला मानना तो सिद्धान्त और प्रत्यक्ष से भी विपरीत है।

"सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं"–यह वाक्य अपेक्षा पूर्वक समझना चाहिए। जो मात्र सम्यग्यदृष्टि है, वह दर्शन=दृष्टि

सम्बन्धी पाप नहीं करता। शेष अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग सम्बन्धी पाप, मात्र दृष्टि-सम्पन्नता से नहीं टल जाता। फिर भी मिथ्यादृष्टि के अभाव और सम्यग्दृष्टि के सद्भाव में वह अधिकांश पाप से बच जाता है।

तत्त्व श्रद्धा क्यों ?

प्रश्न–देव गुरु और धर्म की श्रद्धा मात्र से सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो सकती है, तो फिर नवतत्त्व, षट्द्रव्य, षट्स्थान आदि पर विश्वास करने की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर–सामान्यतया सभी बातें देव, गुरु और धर्म में समावेश हो जाती है। देव को मानने वाला, देव निरूपित तत्त्वों की मान्यता भी करेगा ही। यदि तत्त्वों की मान्यता नहीं की, तो देव में श्रद्धा कहां हुई ? तत्त्वों में अश्रद्धा होना और देव में अश्रद्धा होना एक ही बात है। इस अश्रद्धा से गुरु में भी अश्रद्धा हुई। क्योंकि गुरु भी तो देव निरूपित तत्त्वों को मानते और प्रचारित करते हैं। जो गुरु, देव निरूपित तत्त्वों से विपरीत प्रचार करते हैं, वे वास्तव में सद्गुरु नहीं हैं। धर्म की श्रद्धा में भी तत्त्वों की श्रद्धा आ जाती है, क्योंकि धर्म के श्रुत और चारित्र ऐसे दो भेद हैं। श्रुतधर्म में–'निर्ग्रंथ प्रवचन' अर्थात् सभी तत्त्वों, द्रव्यों और स्थानों का समावेश होता है। नय-निक्षेपादि भी इसीमें है। अतएव देवादि तत्त्व-त्रयी में सभी का समावेश है। संक्षेप-रुचि वाला सम्यग्दृष्टि तो तत्त्व के बनिस्बत देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा ही रखता है।

नव तत्त्व के ३ विभाग होते हैं,–१ हेय, २ ज्ञेय और ३ उपादेय।

१ हेय-बन्ध, आस्रव, पुण्य और पाप ।

२ ज्ञेय-जीव और अजीव ।

३ उपादेय-संवर, निर्जरा और मोक्ष ।

पूर्वाचार्य ने कहा है कि-

**"हेया बंधासवपुण्णपावा, जीवाजीवा य हुंति विण्णेया ।
संवरणिज्जरमुक्को, तिण्णी वि एओ उवावेया ।"**

हेय ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान करना-श्रुत धर्म है,और हेय का त्यागना तथा उपादेय का स्वीकार करना-चारित्र धर्म है । इस प्रकार नव तत्त्व का ज्ञान 'धर्म तत्त्व' में गर्भित है ।

षट् द्रव्य में एक जीव है, शेष पांच अजीव है । इनका समावेश नव तत्त्व में के प्रथम दो तत्त्वों में हो जाता है । षट् स्थान की स्वीकृति भी श्रुत-धर्म में है । इसमें पूर्णतया विश्वास के साथ स्वीकार किया जाता है कि-१ जीव है, २ जीव सदाकाल से है-शाश्वत है, अनादि अपर्यवसित है, ३ जीव कर्म का कर्त्ता है, ४ जीव कर्म का भोक्ता है, ५ जीव की मुक्ति हो सकती है और ६ मुक्ति के उपाय भी हैं ।

जिनागम (श्रुत धर्म) यही बतलाता है । सभी तत्त्वों और समस्त द्रव्यों का श्रुत-धर्म में समावेश है । देव, गुरु और धर्म रूप तत्त्व-त्रयी में सभी तत्त्व आ जाते हैं । 'निर्ग्रंथ प्रवचन' रूप श्रुत-धर्म, समस्त धर्मों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, द्रव्य, गुण, पर्याय, लोक, अलोकादि) का मूल है । ऐसे अलौकिक निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर अटल श्रद्धा होना ही सम्यग्दृष्टि होकर जैन धर्म में प्रवेश पाना है । आज हम 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन रूप जिना-

गमों से ही देव, गुरु, धर्म और हेयोपादेय को जान सकते हैं। इस समय हमारे लिये देव प्रत्यक्ष नहीं है, किंतु उनके प्रतिनिधि रूप गुरु और उनके प्रवचन रूप आगम हमारे सामने हैं। उन देवाधिदेव के उपदेश को, उनके प्रतिनिधि (गुरुदेव) हमें समझाते हैं। वे निर्ग्रन्थनाथ देवाधिदेव की आज्ञा का पालन, खुद करते हैं और हमें भी उनकी आज्ञा की आराधना करने की शिक्षा देते हैं। हमे उनकी आज्ञा का पालन यथाशक्ति अवश्य ही करना चाहिये।

अटल श्रद्धा

सम्यग्दृष्टि की यह दृढ़ और अटल श्रद्धा होनी चाहिए कि:-'एक मात्र निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है। इसके सिवाय सभी अनर्थ है। जिसके हृदय में इस प्रकार दृढ़ विश्वास हो, जिसके अन्तर्पट से यह ध्वनि निकलती हो कि-

"इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए संसुद्धे पडिपुण्णे...वह भक्ति पूर्ण हृदय से यह घोष करता हो कि-

"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।"

अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी देवाधिदेव ने जो प्रतिपादन किया है, वह पूर्ण रूप से सत्य है, सन्देह रहित है। इस प्रकार हृदय से माननेवाला दृढ़ता पूर्वक निर्णय कर लेता है कि-

"णिग्गंथं पावयणं अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।"

अर्थात्–आत्मा के लिए विश्वभर में यदि कोई सामान्य प्रयोजन–हितकारी वस्तु है, तो एक मात्र निर्ग्रन्थ प्रवचन ही है, और परमार्थ (उत्कृष्ट हितकारी वस्तु) है तो भी यही है। सर्वोपरि कार्य-साधक भी निर्ग्रंथ-प्रवचन ही है। इसके सिवाय संसार की सभी वस्तुएँ, सभी विचार, समस्त आचार और सभी प्रयत्न, केवल अनर्थ रूप है। दुःख परम्परा को बढ़ाने वाले हैं। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा रखने वाला और अनिष्ट संयोगों–विपरीत परिस्थितियों में भी श्रद्धा को कायम रखने वाला, कालान्तर में (या भवान्तर में) क्षायक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। फिर यथाख्यात चारित्री बनकर और जन से जिन होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अधिक से अधिक क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव, १५ भव से अधिक नहीं करता। फिर वह मोक्ष पा ही लेता है।

खुद को परखो

'मुझ में सम्यक्त्व है, या नहीं ?'–यह प्रश्न भव्य जीवों के मन में उठना स्वाभाविक है। पूर्वाचार्य कहते हैं कि ऐसे प्रश्न भव्य जीवों के मन में ही उठते हैं। यद्यपि भव्य अभव्य का निःसन्देह निर्णय छद्मस्थ नहीं कर सकता और न सम्यक्त्व मिथ्यात्व का फैसला ही कर सकता है। इसका निर्णय सर्वज्ञ के अधिकार में है। देवता और इन्द्र भी (जिनके पास अवधिज्ञान था) अपने, खुद के भव्य, शुक्ल-पक्षी, सम्यक्त्वी आदि होने का निर्णय नहीं कर सके। वे भगवान् जिनेश्वर देव के पास आये और

पूछा कि-"प्रभो ! मैं भव्य हूं या अभव्य......तब अपने जैसे अल्पज्ञ क्या समझ सकते हैं ? फिर भी यदि हम अपनी श्रद्धा की दृढ़ता को देखें, विचार करें और अन्तर्निरीक्षण करें, तो मैं समझता हूं कि हम ठीक निर्णय तक पहुँच सकेंगे।

हम सोचें कि हमने संसार में, आत्मा के लिये हितकारी, प्रयोजनभूत एवं उपादेय ऐसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन को माना है ? संसार के समस्त वादों और शब्दादि इष्ट विषयों-भौतिक सुख सुविधाओं और अधिकारों से भी बढ़कर निर्ग्रन्थ-प्रवचन को स्थान दिया है ? हमारे हृदय में मजबूती के साथ यह जम गया है कि-निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ है-**"अयं अट्ठे"** कूट कूट कर भरा है ? यदि हमारे हृदय से यह स्वीकारात्मक भाव उठें कि-**"निग्गंथं पावयणं अट्ठे"**, तो समझना चाहिये कि **"हम सम्यग्दृष्टि"** की श्रेणी में स्थान पाने के योग्य हैं। यह तो हुआ सामान्य अर्थ, किंतु इसमें आगे बढ़ कर हममें यह भी विश्वास हो कि-'सामान्य अर्थ ही नहीं, परन्तु परम अर्थ (सर्वोपरि हितकारी = उत्कृष्ट प्रयोजनभूत) भी निर्ग्रन्थ प्रवचन ही है-**'अयं परमट्ठे'**,तो समझ लेना चाहिये कि हम सम्यग्दृष्टि हैं और इसके बाद यह भी अभिप्राय दृढ़तापूर्वक निकले कि **"सेसे अणट्ठे"**-निर्ग्रन्थ प्रवचन के अतिरिक्त जितने भी भाव दुनिया में हैं, वे सबके सब अनर्थ हैं, अहितकर हैं, आत्मा को परमात्म स्थिति पर पहुंचाने में अयोग्य हैं। सभी अनर्थ एवं अहित के कारण हैं, तो अपने को सम्यग्दृष्टि समझने में किंचित् भी शंका नहीं करनी चाहिये। यह बात तो स्वतः के अनुभव

करने योग्य है। निश्चित्त तो नहीं, पर विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रकार की परख लगभग सही और सच्ची ही निकलेगी।

महान् आधार-स्तम्भ

सम्यग् दर्शन जीव के लिए महान् आधार-स्तम्भ है। जब तक इसकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक अनन्त जन्म-मरण का बीज (मिथ्यात्व) मौजूद ही रहता है। मिथ्यात्व की जड़ काट देना, अनन्त जन्म-मरण की जड़ काटना है। संसार में सर्वत्र मिथ्यात्व भरा हुआ है। अनन्तानन्त जीव, मिथ्यात्व के चंगुल में फँसे हुए हैं। सारा वातावरण मिथ्यात्वमय बना हुआ है। ऐसे वातावरण में सम्यक्त्व की खैर कहाँ? जिस प्रकार भयानक वन में जीवन और धन की सुरक्षा होना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से भरपूर संसार में सम्यक्त्व का सुरक्षित रहना भी कठिन हो जाता है। कई भोले जीव, लुट जाते हैं, अपने सम्यक्त्व रत्न को खो बैठते हैं और फिर से मिथ्यात्व के चंगुल में फँस जाते हैं। इनमें से कई तो अनन्त जन्म-मरण कर लेते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व महा भयानक डाकू है। जितना बल चारित्रावरणीय-मोह का नहीं, उतना दर्शनमोहनीय का है। सित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम से भी अधिक स्थिति दर्शनमोहनीय की है। जीव का भयानक-शत्रु मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के चंगुल में दृढ़ता पूर्वक जकड़ा हुआ प्राणी, अनादि काल से दुःख भोग रहा है। यदि जीव का सम्यग् पुरुषार्थ जागृत होकर एक वार थोड़ी देर के

लिए भी—अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व को अपना ले, एकबार इस आधार-स्तंभ को पकड़ले, तो निहाल हो जाय। फिर मिथ्यात्व का उस पर जोर नहीं चल सकता। वह जीव कभी पुनः मिथ्यात्व के चक्कर में आ भी जाय, तो उसमें लगे सम्यक्त्व के संस्कार उसका उद्धार करके ही छोड़ते हैं। फिर उस आत्मा की मुक्ति में सन्देह नहीं रहता। मिथ्यात्व की यह शक्ति नहीं कि उस आत्मा को अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन से अधिक संसार में रोक सके। यह सम्यक्त्व रूपी महान् आधार-स्तंभ, अपतित जीवों के लिए तो उपकारी है ही। उन्हें १५ भव से अधिक नहीं करने देता। किन्तु पतित जीवों के लिए भी उपकारी है। उन्हें अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन के पूर्व ही मोक्ष में पहुँचा देता है।

सम्यक्त्व रूपी आधार-स्तंभ को दृढ़ता पूर्वक पकड़ने वाला चारित्र को भी प्राप्त कर लेता है और अप्रमत्त होकर अकषायी-वीतराग बन जाता है। वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर सिद्ध हो जाता है। जिसने इस आधार को छोड़ा, उसका चारित्र भी व्यर्थ होजाता है। उपशांत-मोह वीतराग, ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर मिथ्यात्व के चक्कर में भी वे ही पड़ते हैं—जिन्होंने सम्यक्त्व रूप आधार-स्तंभ को छोड़ दिया। ऐसी आत्मा नरक निगोद में भी जा सकती है, किंतु चारित्र से पतित होकर भी जिसने इस आधार-स्तंभ को नहीं छोड़ा, वह ऐसी अधम दशा को प्राप्त नहीं होती। मिथ्यात्व का क्षय कर देने वाला यदि पहले से आयुकर्म को नहीं बांधा हुआ हो,

तो वह अवश्य ही, उसी भव में मुक्ति प्राप्त करेगा। यदि चारित्र से गिर गया, तो फिर चढ़ेगा, अवश्य चढ़ेगा। उसका वह आधार-स्तंभ उसे नहीं गिरने देगा। ऐसा अचिन्त्य अनुपम और अपूर्व प्रभाव है इस सम्यक्त्वरूपी आधार-स्तंभ का।

निगोद से खिंच कर लाने वाला

मिथ्यात्व के उदय से जीव, सम्यक्त्व से पतित हो जाता है। ऐसे जीवों में से कुछ जीवों की दशा इतनी बिगड़ जाती है कि जो निगोद में जाकर उत्पन्न हो जाते हैं। वहां एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। उस शरीर में ऐसे जीव भी होते हैं, जो अभव्य तथा कृष्णपक्षी होते हैं। ऐसे जीवों के साथ एक ही शरीर में वह जीव रहता है। उनका आहार और श्वासोच्छ्वास भी एक साथ होता है। भौतिक सुख दुःख समान होते हैं। इस प्रकार वह निकृष्टतम दशा में पड़ा हुआ होने पर भी उसमें विशेषता है। एक बार के सम्यक्त्व के स्पर्श ने उसमें इतनी योग्यता तो रख ही दी कि वह शुल्कपक्षी ही रहता है। उसके सम्यक्त्व के वे संस्कार उसे निगोद से निकाल कर पुनः सम्यक्त्व की ओर आकर्षित करते हैं और वह सम्यक्त्व और विरति पाकर परमपद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है सम्यक्त्व-रत्न का। इसलिए परम कृपालु गुरुदेव कहते हैं कि—"हे जीव! सम्यग्दृष्टि बन-बुज्झ, बुज्झ, बुज्झ।"

मिथ्यात्व की भयंकरता

जिस प्रकार विष की एक बूंद भी प्राण-घातक हो सकती

है, उसी प्रकार मिथ्यात्व का किंचित्-थोड़ा-सा स्वीकार भी सम्यक्त्व का घात कर देता है। समाचार पत्रों में ऐसी खबरें भी पढ़ने को मिली-कि 'अमुक रोगी ने, दवा के भरोसे विष पी लिया और मर गया। अलमारी में दवाइयों की अनेक बोतलें रक्खी हुई हैं, उसमें एक विष की बोतल भी है। एक डॉक्टर, खुद भूल कर दवा के बदले विष पी गया और मर गया। अलमारी में दवा की बोतलें अधिक थी और विष की तो एक ही थी, फिर भी भूल हो गई और उसका घातक परिणाम भुगतना पड़ा। दूसरी ओर सारा विश्व मिथ्यात्व से भरा हुआ है। दुनिया के आकर्षक और मोहक साधन तथा विषय-कषाय को भड़काने के निमित्त, प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं और सम्यक्त्व के निमित्त वहुत ही थोड़े। वे मोहक निमित्त प्रति समय सम्यक्त्व को दूषित करना चाहते हैं। यदि पूरी सावधानी नहीं रक्खी गई, तो सम्यक्त्व का स्थिर रहना कठिन हो जाता है।

जिस चारित्र के कारण सभी कर्मों का नाश होकर मोक्ष मिल सकता था, उस चरित्र में थोड़ा-सा मिथ्यात्व का विष मिल गया, तो क्या हुआ ? अधिक से अधिक ग्रैवेयक देव होकर सागरोपमों तक दैविक सुख भोगते रहे, पर अंत में पुनः जन्म और पुनः मृत्यु, यह क्रम तो चलता ही रहा। मिथ्यात्व के विष से दूपित वने हुए, उग्र चारित्र से जीव का एक भी भव कम नहीं हुआ।

मिथ्यात्व के मोहक रूप

मिथ्यात्व अपने नग्न रूप में (भोंडी शकल में) भी

आता है और सुन्दराकार बनकर भी आता है। बीभत्स रूप में आये हुए मिथ्यात्व से तो समझदार बच सकते हैं, किंतु सुन्दर रूप में सजधज कर आया हुआ मिथ्यात्व, बड़े बड़े समझदारों को भी चक्कर में डालकर अपने चंगुल में फँसा लेता है। जिस प्रकार ऊपरी चमक-दमक और नाज-नखरों को देखकर लोग, बदसूरत पर भी आसक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सुन्दर आवरणों में रहा हुआ मिथ्यात्व, सम्यग्दृष्टियों को भी अपनी ओर खींच लेता है। भले ही आभिग्रहिक अथवा आभिनिवेशिक मिथ्यात्व नहीं हो, प्रकृति सरल हो और जैसा समझ में आया वैसा स्वीकार किया हो। किंतु इससे क्या हुआ ? क्या मिथ्यात्व रूपी विष, सरलता के कारण अमृत हो गया ? नहीं, सरलता और विश्वास के साथ, सोने के भरोसे खरीदा हुआ पीतल, खरीददार को दुःखदायक ही होता है।

वास्तव में मिथ्यात्व भयंकर वस्तु है। जब तक यह प्राणी के साथ लगा रहता है, तब तक वह घनचक्कर ही बना रहेगा। उसके चार गति के चक्कर में कोई कमी नहीं आयगी। इसलिए मिथ्यात्व के गाढ़ बन्धन से मुक्त होना ही जीव की बड़ी भारी सफलता है।

मार्ग एक या अनेक ?

प्रश्न—हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि किसी एक स्थान पर पहुँचने के अनेक मार्ग होते हैं, जिस पर चल कर कोई भी मनुष्य या पशु, उस स्थान पर पहुँच सकता है, उसी प्रकार मोक्ष के भी अनेक मार्ग होने चाहिए और किसी भी प्रकार की

साधना से, किसी को भी मुक्ति प्राप्त हो जानी चाहिए–ऐसा मानना ठीक है क्या ?

उत्तर–आपका कथन किसी अपेक्षा से ठीक है। निम्न दृष्टिकोणों से यदि हम उपरोक्त प्रश्न पर विचार करें, तो समाधान हो सकता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हमें १२ द्वारों पर विचार करना होगा।

१ द्रव्य, २ क्षेत्र, ३ काल, ४ भाव, ५ भव, ६ जाति ७ लिंग, ८ वय, ९ वेश, १० आचार-विचार, ११ साधक और १२ बाधक।

१ द्रव्य–आत्म-द्रव्य ही के लिए मुक्ति का विचार होता है। वही आत्मा मुक्ति के योग्य होती है जो भव्य हो, शुक्ल-पक्षी हो, परिमित संसारी हो, आयुकर्म का अबन्ध कहो, सम्यग्-दृष्टि, विरत, अप्रमत्त, अवेदी, अकषायी, अरागी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अयोगी, अलेशी और अकर्मी हो। इस प्रकार की योग्यता वाली आत्मा, मुक्ति प्राप्त कर सकती है। यह मुक्ति के योग्य द्रव्य है।

२ क्षेत्र–द्रव्य किसी क्षेत्र में ही होता है। अतएव क्षेत्र सम्बन्धी विचार करना भी आवश्यक है। मुक्ति के योग्य प्राणियों का उत्पत्ति क्षेत्र पन्द्रह कर्मभूमि ही है। इनमें उत्पन्न जीव ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु साहरण की अपेक्षा अकर्मभूमि, अन्तर्द्वीप, नदी, समुद्र, उर्ध्वलोक और अधोलोक से भी मुक्ति प्राप्त की जासकती है। इसके योग्य मनुष्य क्षेत्र (पैंतालीस लाख योजन प्रमाण) है। इसमें से किसी भी क्षेत्र से मुक्ति

प्राप्त की जासकती है।

३. काल—महाविदेह में तो किसी भी काल में मुक्ति हो सकती है, किंतु भरत एरवत के अवसर्पिणि काल के चौथे आरे में और पाँचवें आरे के प्रारम्भ के कुछ काल में तथा उत्सर्पिणि काल के ३—४ आरे में सिद्ध होते हैं।

४ भाव—क्षायिक भाव से सिद्ध होते हैं। यों तो मुक्त जीवों में वस्तुतः पारिणामिक भाव ही होता है, किंतु सिद्ध होते समय क्षायिक भाव होता है। इससे वे कर्मों को क्षय करते हैं और नये कर्मों का बंध नहीं करते। इसलिए उपचार से सिद्धों में क्षायिक भाव माना गया है। उदय, उपशम अथवा क्षयोपशम भाव में रहने वाले सिद्ध नहीं हो सकते। मोक्ष में जाने का परम्परा कारण क्षायोपशमिक भाव है और अनन्तर कारण क्षायिक भाव है।

५ भव—एक मात्र मनुष्य भव ही मुक्ति के योग्य है। देव, नारक और तिर्यञ्च भव इसके योग्य नहीं है।

६ जाति—पंचेन्द्रिय जाति ही से अनिन्द्रिय होकर मुक्ति लाभ की जा सकती है, एकेंद्रिय से चौरेन्द्रिय जाति से नहीं। ऊँच, नीच और मध्यम ऐसे सभी कुलों में से सिद्ध हो सकते हैं।

७ लिंग—पुरुष, स्त्री और नपुंसक लिंग से, अवेदी अवस्था प्राप्त कर सिद्ध हो सकते हैं।

८ वय—बाल, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध वय से सिद्ध हो सकते हैं।

९ वेश—गृहस्थ वेश, अन्यतीर्थी वेश और मुनि वेश से भी सिद्ध हो सकते हैं। राजमार्ग तो मुनि वेश से सिद्ध होने का है।

१० आचार विचार–सम्यग् विचार और आचार (केवली प्रणीत धर्म के अनुसार) पालनेवाले ही सिद्ध हो सकते हैं।

असम्यग् (मिथ्या श्रद्धान् आदि) से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। समयाभाव से, द्रव्य-लिंग से गृहस्थ और अन्यतीर्थी रहते हुए भी सिद्ध हो सकते हैं, किंतु भाव-लिंग (श्रद्धा और स्पर्शना) तो स्वलिंग=सम्यक् ही होनी चाहिए। इसके बिना सिद्धि हो ही नहीं सकती। वचन द्वारा प्ररूपणा का अवसर हो, तो वह भी सम्यग् ही होनी चाहिए। मिथ्या प्ररूपणा के चलते मुक्ति नहीं हो सकती।

११ साधक–सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मुक्ति के सच्चे साधन हैं। संवर-सह निर्जरा से मोक्ष की साधना होती है। इसीसे मुक्ति प्राप्त होती है। जिनाज्ञा के अनुकूल परिणति ही साधक कारण है।

१२ बाधक–मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, मुक्ति के लिए बाधक हैं। जबतक आस्रव है, तबतक बंधन बढ़ते ही रहते हैं और जब तक बन्धन है, तबतक मुक्ति नहीं हो सकती। जो लोग आरम्भ परिग्रह को मुक्ति के लिए अनुकूल साधन मानते हैं, जिनकी दृष्टि आत्मशुद्धि की ओर नहीं होकर लोक-रुचि अथवा संसार-रुचि की ओर लगी हुई है, वे बाधक कारण को पकड़े हुए हैं। जबतक यह कारण मौजूद रहेगा, तबतक मुक्ति नहीं होने की।

हमने यहां संक्षेप में उपरोक्त बारह द्वारों पर विचार किया है। इनके सिवाय और भी अनेक द्वार बन सकते हैं।

इस प्रकार सम्यग् विचार करने से समाधान हो सकता है। मोक्ष के साधन सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप हैं। इनसे निष्पन्न मार्ग ही मोक्ष मार्ग है।

कल्पना करो कि 'भारत' के मध्य भाग में 'सिद्धपुर' नामका एक श्रीसम्पन्न रमणीय नगर है। सिद्धपुर के पश्चिमी भाग में रहा हुआ कोई व्यक्ति, सिद्धपुर के लिए-उसी दिशा में-पूर्व की ओर चले, तो सिद्धपुर पहुँच सकता है। इसी प्रकार अन्य तीन दिशाओं में रहे हुए तीन व्यक्ति, सिद्धपुर की दिशा में पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चलें, तो सिद्धपुर पहुँच सकते हैं। चारों के क्षेत्र भिन्न भिन्न होते हुए और भिन्न दिशा में रहते हुए भी वे सब एक सिद्धपुर की ही दिशा में चल रहे हैं। पश्चिमवाला पूर्व की ओर चलता है, उसके लिए सिद्धपुर की दिशा पूर्व है और पूर्ववाले के पश्चिम में है। चारों ही एक सिद्धपुर की दिशा में ही चल रहे हैं, इसीसे वे सफल मनोरथ हो सकते हैं। यदि पूर्ववाला पूर्व में, और दक्षिण वाला दक्षिण में चले, तो उनके मार्ग एक नहीं है-सिद्धपुर की ओर नहीं है। इसलिये ऐसे भिन्न मार्गवाले असफल रहते हैं, और ध्येय से दूर-अति दूर चले जाते हैं। उनका श्रम दुःखदायक होता है।

कोई सामायिक चारित्र से सीधे सूक्ष्मसंपराय को स्पर्श-कर यथाख्यात चारित्री हो जाते हैं, और कोई सामायिक के बाद छेदोपस्थापनीय और परिहार विशुद्ध चारित्र पालने के बाद आगे बढ़ते हैं। कोई लम्बे समय तक चारित्र पालते हैं, तो कोई थोड़े ही समय में उग्र प्रयत्न द्वारा ध्येय साध लेते हैं।

कोई राजमार्ग का अनुसरण करते हैं, तो कोई गजसुकुमाल अनगार की तरह उबड़खाबड़ मार्ग को छलांग मारकर पार कर लेते हैं। इस प्रकार अनेक मार्ग होते हुए भी प्रयत्न अनुकूल हो-सम्यग् अनुष्ठान हो, तो सफलता हो सकती है। जिनकल्प, स्थविरकल्प, कल्पातीत, ये भिन्न मार्ग होते हुए भी सम्यग् परिणति युक्त हैं। ऊबड़खाबड़ मार्ग से चलनेवालों के लिए, खतरे के स्थान अधिक होते हैं। यदि सत्व की न्यूनता हो, तो पतन की अधिक संभावना रहती है।

सिद्धि का राजमार्ग सरल है। उसमें खतरे के स्थान उतने नहीं है। 'सलिंग' राजमार्ग है। गृहलिंग और अन्यलिंग राजमार्ग नहीं है। प्रचार और समर्थन के लायक नहीं है। निर्ग्रंथ प्रवचन ने सिद्धांततः स्वीकार किया है कि सलिंग में, एक समय में १०८ तक सिद्ध हो सकते हैं, किंतु गृहस्थलिंग में अधिक से अधिक चार ही। इससे सिद्ध होता है कि गृहलिंग राजमार्ग नहीं है। गृहलिंग में लाखों में से एकाध सफल होते हैं। उनकी परिस्थिति भिन्न प्रकार की होती है। यदि वे स्वयं गृहस्थलिंग को उपादेय मानकर पकड़े रहें, तो कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। ऊपरी लिंग गृहस्थ या अन्यतीर्थी का होते हुए भी भीतरी-भावलिंग तो उनका भी स्वलिंग ही होता है। भावों से भी यदि वे द्रव्यलिंग की तरह ही हो, तो कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते। 'सलिंग' अर्थात्-अपना लिंग, संयम का लिंग, मोक्षार्थियों का लिंग। 'अन्यलिंग' अर्थात् दूसरों का, संसार का, असंयम का लिंग।

कोई विष खाकर भी आरोग्य लाभ करले, तो विषपान आरोग्यप्रद नहीं माना जाता। कहते हैं कि 'किसी असाध्य रोगी ने रोग से तंग आकर, मरने के उद्देश से विषपान कर लिया। किंतु वह विषपान उसके रोग की उपशांति का कारण बनगया। "मरता आकड़ा पीवे"–इस देशी कहावत के अनुसार यदि कोई गृहस्थ या अन्यलिंग में रहते हुए भी (असोच्चा केवली की तरह) भावों के सुलटने से सम्यग् परिणतिवाला हो जाय और श्रेणी प्राप्त कर अन्तकृत केवली होजाय, तो उसकी पूर्व परिणति की सराहना नहीं की जा सकती। विषपान, आरोग्यता का सम्यग् साधन नहीं माना जाता। इसी प्रकार अन्यलिंगादि साधन भी मोक्ष का सही साधन नहीं माना जाता। जो लोग, कुश्रद्धा के चलते अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ दशा को मोक्ष मार्ग मानने के लिए 'अनेक मार्ग' की युक्ति पेश करते हैं, वे गलत प्रचार करते हैं।

उपरोक्त विषय पर हम दूसरी दृष्टि से भी विचार करते हैं।

कई विशिष्ट स्थान ऐसे भी होते हैं कि जहाँ पहुँचने का एक ही मार्ग होता है। जिस गाँव के तीन ओर पहाड़ हो, या नदी आदि से घिरा हुआ हो, अथवा सुरक्षा की दृष्टि से किला बनाकर जाने आने का–चित्तोड़गढ़ की तरह केवल एक ही मार्ग रखा हो, या ऐसे दुर्गम पहाड़ पर बसा हो कि जहाँ पहुँचने का एक ही रास्ता हो, तो उस ग्राम या नगर में एक ही रास्ते से पहुँचना होगा। बृहद्कल्प सूत्र प्रथम उद्देशक के दसवें

सूत्र में ऐसे स्थान का उल्लेख करके विधान किया है कि "जिस गाँव, नगर यावत् राजधानी में प्रवेश करने और निकलने का केवल एक ही द्वार हो, तो उस ग्राम नगरादि में साधु और साध्वी को-दोनों को, नहीं रहना चाहिए। यदि साधु रहें, तो साध्वी नहीं रहे और साध्वी रहे तो साधु नहीं रहे"। इस प्रकार एक ही द्वार और एक ही मार्ग वाले कुछ ग्रामादि भी होते हैं। चतुर्गति रूपी संसार में परिभ्रमण वाले स्थान के लिए तो हिंसादि १८ पाप रूप अनेक मार्ग हैं। प्रत्येक मार्ग से नरकादि में जाया जा सकता है। परन्तु मोक्ष रूपी महानगर के लिए तो एक-मात्र मार्ग-'निवृत्ति' ही है। संसार (-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) से निवृत्त होकर सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र अर्थात् श्रद्धा और चारित्र रूपी दो चरण की प्रवृत्ति से मोक्ष महानगर की दिशा में गति करना और क्षपक-श्रेणी के एक-मात्र द्वार से हो कर मोक्ष महानगर में पहुँचना होता है। इसके सिवाय दूसरा मार्ग है ही नहीं, बिल्कुल नहीं।

किसी खास स्थान पर पहुँचने के लिए प्रस्थान करते समय तो विविध मार्ग हो सकते हैं, किंतु आगे चलकर सभी को एक ही मार्ग पर आना पड़ता है। जिस प्रकार अपने निवास स्थान से निकल कर रेल्वे-स्टेशन पर पहुँचने के लिए कई मार्ग होते हैं, किंतु स्टेशन के अहाते में एक ही मार्ग से सब को प्रवेश करना होता है और एक ही रास्ते से निकल कर गाड़ी में बैठा जाता है, उसी प्रकार मोक्ष की ओर कदम बढ़ाने वाले के भी प्रारम्भ में विभिन्न मार्ग होते हैं। कोई पाखण्ड और मिथ्या-

मत के अनेक मार्ग रूप मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आकर आगे बढ़ते हैं, तो कोई तीसरे को छोड़कर चौथे में आकर आगे बढ़ते हैं। कोई चौथा भी छोड़कर पाँचवें में पहुँच जाता है और कोई कोई भव्यात्मा, प्रथम गुणस्थान से छलांग मारकर सीधे सातवें गुणस्थान में पहुँच जाती है। इसके वाद तो सभी को एक ही मार्ग पर आना होता है और क्षपक-श्रेणी के द्वार से गुजर कर ही मोक्ष-महालय में पहुँचा जाता है।

कई आत्माएँ चौथे गुणस्थान से ही मार्ग भ्रष्ट होकर तीसरे, दूसरे, या पहले गुणस्थान में पहुँच जाती हैं। कई पाँचवें से भटक जाती हैं और कई छठे से। वापिस लौटने की स्थिति दसवें गुणस्थान तक है। ग्यारहवें गुणस्थान में चली जाने वाली आत्मा तो निश्चय ही लौटती है।

आठवें गुणस्थान से दो मार्ग निकलते हैं—उपशम और क्षपक। जो उपशम श्रेणी चढ़ा, वह ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँच कर रुक जाता है। उसे वहाँ से लौटना ही पड़ता है। यदि उस आत्मा ने वहाँ पहुँच कर, उसी गुणस्थान में मृत्यु प्राप्त करली, तो वह सर्वार्थसिद्ध महाविमान (छोटी मोक्ष) में जाकर ३३ साग-रोपम तक देव सम्बन्धी परम सुख भोगती है और वहाँ से मर कर मनुष्य होती है। फिर उसे चौथे गुणस्थान से आगे बढ़कर क्षपकश्रेणी के एक मात्र मार्ग से ही मोक्ष महल में पहुँचना होता है। इसके सिवाय दूसरा मार्ग है ही नहीं।

अनेक मार्ग वहाँ होते हैं—जहाँ से अनेक स्थानों पर—अनेक दिशाओं में जाया जाता है। जाने वाले भी वहुत होते

हैं। चतुर्गति के अनेक स्थानों पर जाने के लिए हिंसादि पाप और अकाम निर्जरा, पुण्योपार्जन, सरागता, सकर्मता आदि कारण होते हैं। इन सब के मार्ग भी अलग अलग होते हैं। सिद्ध गति तो ऐसी है कि जिसका एक ही मार्ग है और वहाँ जाने वाले भी थोड़े ही होते हैं।

जिस प्रकार भव्य भवन के शिखर पर पहुँचने के लिए एक ही सीढ़ी (चढ़ने का मार्ग) होता है, उसी प्रकार मोक्ष-महल में पहुँचने के लिए निवृत्ति का एक ही मार्ग है और क्षपकश्रेणी के सोपान चढ़कर ही पहुँचा जाता है। इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

सर्वज्ञता पर श्रद्धा

प्रश्न—जिनेश्वरों के त्याग, उनकी उत्कृष्ट तपस्या, उनकी अपूर्व वीतरागता और महान् आत्मबल पर विश्वास हो सकता है, किंतु एक मात्र सर्वज्ञ सर्वदर्शी नहीं माना जाय तो क्या हर्ज है?

उत्तर—यदि जिनेश्वरों को सर्वज्ञ सर्वदर्शी नहीं माना जाय, तो सम्यगदृष्टि से त्यागपत्र देना ही माना जायगा। जो मिथ्यादृष्टि होते हैं,वे ही जिनेश्वरों की सर्वज्ञता से इन्कार करते हैं। ऐसा करके वे समस्त तत्त्व-ज्ञान को ही अमान्य जाहिर करते हैं। क्योंकि जिसने सर्वज्ञता नहीं मानी, वह धर्मास्तिकायादि द्रव्य, स्थावरकाय और निगोद के जीव, नर्क, स्वर्ग, मोक्ष आदि किस आधार से मानेगा? वह इनसे भी इन्कार कर सकेगा।

और इस प्रकार जैन तत्त्व-ज्ञान से ही असहमत हो जायगा।

विश्व में ज्ञेय वस्तुएँ अनन्त--अनन्तानन्त हैं। छद्मस्थ जीव, संख्यात वस्तुओं का आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकता है, शेष अनन्तानन्त वस्तुओं के विषय में वह नहीं जानता। प्रत्येक छद्मस्थ जीव, अनन्तानन्त ज्ञेय वस्तुओं के विषय में अनजान है। जब एक मनुष्य में अनन्तानन्त अज्ञान माना जा सकता है, तो किसी एक में अनन्तानन्त ज्ञान क्यों नहीं माना जाता ?

अनपढ़ जीव अनन्त हैं, पढ़े लिखे मनुष्य थोड़े ही होते हैं। उनमें भी साधारण पढ़े लिखे अधिक और विशिष्ट विद्वान् थोड़े। उन विशिष्ट विद्वानों में भी ज्ञान की तरतमता होती है। कोई किसी एक विषय में अधिक अनुभव रखता है और दूसरे विषय में थोड़ा, तथा शेष विषयों में अनभिज्ञ। इस प्रकार करोड़ों मनुष्यों में अधिक विषयों को गहराई के साथ जानने वाले इतने थोड़े होंगे कि जो अंगुलियों पर ही गिने जा सके। जबतक ग्रामोफोन, टेलिग्राफ, रेडियो, हवाईजहाज, अणुबम आदि आश्चर्य जनक वस्तुओं का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक दुनिया के सभी मनुष्य इन वस्तुओं के ज्ञान से अनभिज्ञ ही थे। एक भी मनुष्य इन चीजों को नहीं जानता था। सबसे पहले इन वस्तुओं का ज्ञाता एक ही व्यक्ति हुआ। वर्त्तमान संसारभर में एक मात्र वही इसका ज्ञाता था और उसी ने आविष्कार करके संसार को आश्चर्य में डाल दिया। यद्यपि जैन मान्यतानुसार इस अनादि संसार में ऐसे आविष्कार अनन्तवार हो चुके, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से ये वस्तुएँ वर्त्तमान युगों में बिलकुल नयी और सर्व प्रथम ही मानी जायगी। अभी ऐसी कितनी ही वस्तुएँ छुपी हुई

है, जो दुनिया के किसी भी मनुष्य की दृष्टि में नहीं है, जब वे प्रकाश में आवेगी, तब संसार चकित होकर उनको सर्वथा नयी मानने लगेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञता के विषय में भी जानना चाहिये। संसार के समस्त द्रव्यों और उनके गुण पर्यायों के ज्ञाता-दृष्टा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, किसी समय इस संसार में अवश्य थे और हजारों वर्ष बाद भी अवश्य होंगे। प्रत्यक्ष को ही सब कुछ और सर्वथा सत्य मानकर अप्रत्यक्ष वस्तु के लिये सर्वथा इन्कार करने वाले सुज्ञ नहीं हैं। प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वालों के लिये उपर्युक्त अद्भूत वस्तुएँ—आविष्कार के पूर्व—असत्य मानी जाती थी, वे ही निर्माण के बाद सत्य मानी जाने लगी। इसी प्रकार आगे भी होगा। अतएव प्रभु की सर्वज्ञता सर्वदर्शिता से इन्कार करना समझदारी नहीं है, यह मिथ्यादृष्टि का परिणाम है।

देश सम्यक्त्व क्यों नहीं

प्रश्न—यदि तीर्थंकरों की सर्वज्ञता मान ली जाय, किंतु षट्-द्रव्य नौ-तत्त्वादि में से किसी एकाध तत्त्व अथवा उसके किसी अंश को नहीं माना जाय, तो मिथ्यात्व नहीं लगना चाहिये। जिस प्रकार पूर्ण रूप से चारित्र नहीं पाल सकने वाले को कुछ कम पालने पर देश-चारित्री कहा जाता है, उसी प्रकार देश सम्यक्त्व भी मानना चाहिये?

उत्तर—सम्यक्त्व तो पूर्ण रूपेण होती है, देशरूप में नहीं। क्योंकि जहां किसी एक वस्तु के लिये इन्कार हुआ, वहां मिथ्यात्व का प्रवेश हो ही गया। प्रज्ञापना सूत्र के बावीसवें पद में

लिखा कि 'मिथ्यात्व सभी द्रव्यों से संबंध रखता है।' श्री जिन वचनों में किंचित् मात्र भी सन्देह किया, तो मिथ्यात्व का भाजन हो जाता है। व्रत–चारित्र की बात दूसरी है। वह शक्ति से सम्बन्ध रखता है। हृदय से चाहते हुए भी शक्ति की न्यूनता से देश-चारित्र होता है। चारित्र के गुणस्थान भी पृथक् पृथक् हैं। सम्यक्त्व के लिये तो एक-मात्र चौथा गुणस्थान ही है। इसमें देश और सर्व का विभाग नहीं है। और श्रद्धा तो मात्र अभिप्राय का विषय होने के कारण चारित्र के समान शक्ति का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता। जमाली का चारित्र उत्तम था, किंतु एक विषय में अश्रद्धा हो जाने से वह विराधक हुआ (मिथ्यात्वी कहलाया)। इसलिये श्रद्धा तो पूर्ण रूपेण शुद्ध होनी चाहिये। यदि कोई बात समझ में नहीं आवे, तो अपनी बुद्धि की न्यूनता मानकर **"तमेव सच्चं णिसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"**— कहकर श्रद्धा का बल कायम रखना चाहिये। अश्रद्धालु बनकर मिथ्यात्व को नहीं अपनाना चाहिये।

विश्व-धर्म

प्रश्न–जैनधर्म तो विराट है, विशाल है, विश्वधर्म होने के योग्य है। फिर आप इसे संकुचित दायरे में क्यों बाँध रहे हैं?

उत्तर–हाँ, जैनधर्म विराट है, विशाल है और विश्व-धर्म होने के योग्य भी है। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा जैनदर्शन, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवलोक तथा लोकान्त में सिद्धों तक है। देश चारित्र की अपेक्षा पशु, पक्षी आदि संज्ञी तिर्यंचों

में, और देश तथा सर्वचारित्र की अपेक्षा मनुष्यों में जैनधर्म है। इतने व्यापक और विशाल क्षेत्र में जैनधर्म है। यदि सभी मनुष्य इसे अपनाना चाहें, तो गरीब से लेकर अमीर, रंक से लेकर राष्ट्रनायक, और कृषक से लेकर सेनापति तक अपना सकते हैं। किंतु ऐसा होता नहीं है। उदयभाव की विचित्रता एवं विविधता के कारण जीवों की परिणति भी विविध प्रकार की होती है, और परिणति की विविधता के कारण रुचि भी भिन्न भिन्न होती है। सारा संसार एक ही धर्म का उपासक और एक ही मत का हो जाय–ऐसा कभी नहीं हो सकता। जीवों की विविध परिणति, रुचि, मान्यता और आचरण रहता ही है। अतएव धर्म में योग्यता होते हुए भी जीवों की अयोग्यता–जीवों के उदयभाव की विचित्रता, के कारण सभी मनुष्य एक धर्म के अनुयायी नहीं बन सकते।

एक मत होने में किसी एक को अपना स्वरूप, लक्ष्य तथा मत छोड़ना पड़ता है। या तो धर्म अपना स्वरूप छोड़ कर सब की इच्छानुसार बन जाय, या सभी जीव अपना अपना मत छोड़कर एक धर्म के अनुयायी बन जायँ। क्या ऐसा हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। सभी मनुष्यों का एक मत कभी नहीं हो सकता। एक मत की विभिन्न शाखाएँ भी जब एक नहीं हो सकती, सम्वत्सरी जैसा छोटा-सा मतभेद भी जैनियों की विभिन्न सम्प्रदायों का नहीं मिटा, नवीन विशाल बूचड़खाने जैसे प्राणी-हत्यालय बंद करवाने में भी एक प्रांत, एक नगर के सभी मनुष्य एक मत नहीं हो सके, तो संसार के सभी मानव एक धर्म के अनुयायी हो जायँ, यह तो असंभव एवं अशक्य ही है।

गोवध बंदी जैसे सामान्यतम विषय में भी हिन्दू-कुलोत्पन्न राज्य-मन्त्री अनुकूल नहीं बनते, जिसके लिए आमरण अनशन करने के लिए सैकड़ों व्यक्ति कमर कस रहे हैं, तब तत्वज्ञान के विषय में एकमत कैसे होंगे ?

जब मनुष्य एक मत नहीं हो सकते, तो शेष रहा धर्म। यदि धर्म का रूप जन-रुचि के अनुसार बनाया जाय, तो वह धर्म रहेगा ही कैसे ? सबकी रुचि के अनुसार स्वांग सजनेवाले की स्थिति क्या होती है ? उसका अस्तित्व कैसे कायम रह सकता है ? वह तो फिर अधर्म की प्रचूरता में ही खो जायगा।

जैनधर्म विशाल अवश्य है, किंतु वह अपने आप में विशाल होकर भी बहुत ही सिमटा हुआ है। अपने रूप में वह बहुत ही संक्षिप्त है। वह सर्व व्यापक नहीं है। सर्व व्यापक है– आश्रव ! आश्रव का क्षेत्र लोक-व्यापी है। पाप, अधर्म एवं बन्ध का क्षेत्र समस्त लोकाकाश है। संवर तो एकदम सिमटा हुआ, थोड़े-से स्थान में रहा हुआ है। विशालतम भयानक वन के समान आश्रव है। उसमें संवर की सड़क तो पतलीसी लकीर के समान बनी हुई है। यद्यपि वह सड़क अपने यात्री को एक ओर से छोर तक पहुँचा देती है, तथापि वह लंबी होती हुई भी है तो पतली-सी रेखा। उसकी अपेक्षा शेष रहा हुआ वन, कितना विशाल और विशालतम होता है। इसी प्रकार जैनधर्म, मिथ्यात्व से निकल कर सिद्ध स्वरूप तक पहुँचा सकता है, फिर भी उसका मार्ग बहुत ही सिमटा हुआ, पतली-सी सड़क के समान है। पाप, अधर्म और आश्रव से अनन्त भाग न्यून। अधर्म का क्षेत्र, धर्म की अपेक्षा अनन्त गुण अधिक रहा है और

रहेगा। अतएव धर्म को सर्व व्यापक बनाने के लिए उसके स्वरूप को नहीं बदला जा सकता।

जिस प्रकार संसार में विभिन्न जाति की वस्तुएँ हैं और प्रत्येक जाति में भी कई भेद प्रभेद हैं। धान्य में कोदों भी है और ज्वार, मक्का तथा गेहूँ भी। घोड़े की जाति में २५) ३०) रुपये का टट्टु भी है और सवा लाख का रेस का घोड़ा भी। रत्न भी विविध प्रकार और मूल्य के होते हैं। बहुमूल्य वस्तु परिमाण में थोड़ी होती है और कहीं कहीं मिलती है। उसका क्षेत्र सीमित रहता है। वह सर्वव्यापक नहीं हो सकती।इसी प्रकार धर्म के विषय में भी समझना चाहिए।

जिस प्रकार चांदी, सोना और हीरों का मूल्य, जन-मत के आधार पर बढ़ाया घटाया नहीं जा सकता। उनका मूल्य अपने आप की योग्यता से है, उसी प्रकार धर्म का स्वरूप भी अपनी विशेषता के कारण है। धर्म की अपनी तारकता, विशुद्धता, आत्मा को परमात्मा बनाने की रीति व विधि-विधान ही उसकी उपयोगिता बतलाते हैं। यदि ये वस्तुएँ, उसमें से निकल जाय और वह मिट्टी और धूल की तरह सर्व सुलभ बन जाय, तो उसका स्थान ही वैसा हो जायगा। फिर वह माथे से उतर कर पैरों के नीचे आ जायगा।

प्रश्न—जो धर्म, मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी नहीं होता, वह धर्म ही कैसा ? जैनधर्म एक जाति, एक देश और एक रूप में बँधा रहे, तो वह विश्व-धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जैनधर्म तो मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है, चाहिए उसका आराधक। धर्माराधना में जाति, वर्ग और देश

का भेद तो किसी ने भी उपस्थित नहीं किया। वास्तव में भेद की बात दूसरी ही है। प्रस्तुत प्रश्न के मूल में विवाद इस बात का है कि एक वर्ग कहता है—'धर्म का रूप ही बदल कर अनुकूलता के अनुसार बनाया जाय', तब दूसरा वर्ग कहता है कि 'धर्म नहीं बदल सकता। मनुष्य स्वयं बदले और धर्म के अनुरूप बने।' अब समझना यह है कि कौन बदले, धर्म या धर्मी ?

जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुएँ नहीं पलटती। यदि उन्हें पलटाया जाता है, तो वे उतनी लाभकारी नहीं रहती, उसी प्रकार धर्म की स्वाभाविक शोधन-शक्ति भी अपने स्वाभाविक रूप में ही कायम रहती है। उसमें परिवर्त्तन होने पर वह शक्ति नहीं रहती।

जिस प्रकार सरोवर का निर्मल और शीतल पानी, मनुष्य की प्यास मिटाकर तृप्ति देती है, गन्दला—मिट्टी, कचरा और मूत्रादि मिला हुआ पानी हितकारी नहीं होता, न नशीली वस्तु मिलाकर भंग और मदिरा बना देने से वह लाभ होता है, उसी प्रकार धर्म को इच्छानुसार बनाने पर वह आत्मशोधक—बन्धच्छेदक धर्म नहीं रहकर,बन्धन कारक बन जाता है। उसका मूल स्वभाव कायम नहीं रहता। जबतक उसमें संवर का तत्त्व कायम रहता है, तभी तक वह आत्म-रक्षक रहता है। जहां संवर तत्त्व निकला कि फिर धर्म रहा ही कहां ? संवर का अस्तित्व रखकर कोई भी व्यक्ति, किसी भी जाति, कुल, वर्ग और किसी भी देश का निवासी जैनधर्मी हो सकता है। इसमें

कोई मतभेद नहीं है।

प्रश्न–जिस प्रकार निर्मल एवं शीतल जल में बादाम, पिस्ता, दूध और मिश्री आदि मिलाकर अधिक हितकारी बनाया जा सकता है, उसी प्रकार धर्म को भी युगानुसारी मिश्रण से युक्त करके सभी मनुष्यों के लिए उपयोगी क्यों नहीं बनाया जा सकता ?

उत्तर–बनाया जा सकता है और सदा से बनाते आये हैं। संवर तत्त्व में निर्जरा की मात्रा बढ़ाते रहने से वह धर्म अधिक हितकारी बन सकता है। पानी के गुणों को सुरक्षित रखते हुए उसमें गुण उत्पन्न करने वाले तत्त्व मिलाने से गुण वृद्धि होती है, उसी प्रकार संवर धर्म को सुरक्षित रखते हुए निर्जरा का उत्तम मिश्रण किया जाय, तो वह अधिक लाभ दायक होता है। भूतकाल में अनेकानेक भव्यात्माओं ने, गुणरत्न-संवत्सरादि और रत्नावली आदि द्रव्य भाव तप मिलाकर आत्मा की विशेष शुद्धि की है। ऐसा होना तो विशेष लाभ दायक है, फिर भी इसे परिवर्त्तन नहीं कहते। क्योंकि संवर के साथ निर्जरा भी धर्म का ही तत्त्व है। जिस साधना में संवर का तत्त्व कायम रखकर निर्जरा का जितना अधिक मिश्रण हो, वह उतनी अधिक लाभकारी होती है। इसमें कुछ भी परिवर्त्तन नहीं होता। यह तो जैनधर्म का सदा से चला आ रहा स्वरूप ही है।

परिवर्तन तो तब कहा जाय कि जिसमें आश्रव तत्त्व को भी धर्म का रूप दिया जाय। जहाँ आश्रव और बंध की

साधना है, वहां जैनधर्म नहीं है। यदि साधक को जैनधर्म की साधना करनी है, तो उसे सब से पहले मिथ्यात्व और फिर अविरति आश्रव को छोड़ना होगा और सम्यक्त्व तथा यथा-शक्ति विरति अपनानी होगी। तभी वह आराधक हो सकेगा।

प्यासा व्यक्ति स्वयं जलाशय के निकट जाता है और उससे पानी लेकर अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न करता है, किंतु जलाशय स्वयं चलकर प्यासे के पास नहीं आता। इसी प्रकार धर्मेच्छुक स्वयं धर्म के अनुकूल बनकर उसे स्वीकार कर सकता है, धर्म उसकी इच्छानुसार नहीं बनता। जो लोग, जन सुविधानुसार धर्म को बदलने का कहते हैं, वे अनभिज्ञ हैं। उनके हाथ धर्म नहीं, अधर्म ही लगता है।

सोने का महत्व तभी तक है, जबतक कि वह अपने आप में शुद्ध और निर्मल रहे और सर्वोपयोगी बनने के लिए अपने में हलके तत्त्व का मिश्रण नहीं होने दे। यदि उसने हलके तत्त्व का मिश्रण करके अपना केरेट गिराया, तो न तो वह शुद्ध एवं असली रह सकेगा और न उसका वह महत्व—मूल्य ही रहेगा। दूसरों की सुविधा के लिए अपना रूप बिगाड़ कर महत्वहीन बनना तो अपने को ही मिटाना है। यही बात धर्म के विषय में भी है।

आस्था का महत्व

आस्था=श्रद्धा के महत्व पर हम पहले लिख चुके हैं। यहां फिर हम उसी विषय की चर्चा कर रहे हैं। सम्यक्त्व के पांच लक्षणों में पूर्वाचार्यों ने पहला स्थान 'सम' को दिया है।

पूर्वाचार्यों के विषय वर्णन का क्रम तीन प्रकार का रहा है,- १ पूर्वानुपूर्वी २ पश्चानुपूर्वी और ३ अनानुपूर्वी । कुछ विषयों में पूर्वानुपूर्वी क्रम रहा है और कुछ में पश्चानुपूर्वी । गुण वृद्धि की दृष्टि से नमस्कार मन्त्र का साधु-पद ही मूल स्थान है। इसी में गुण वृद्धि होने पर उपाध्यायादि पद की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों में प्राथमिकता, 'आस्तिक्य' गुण की है। यह मूल भूमिका है। इस पर ही अनुकम्पादि गुण प्रकट होते हैं। भगवद्वाणी पर श्रद्धा होने पर ही स्थावरादि जीवों की अनुकम्पा होती है और भाव अनुकम्पा की प्राप्ति तो यहीं होती है। सम्यग्दृष्टि यह विश्वास कर लेता है कि जीव की दयनीय दशा (अनुकम्पा के योग्य दुःखी अवस्था) उसके हिंसादि पापों के कारण हुई है। सभी दुःखों का मूल मिथ्यात्वादि पापों में रहा हुआ है। जिस प्रकार वह दूसरे जीवों की दुखी अवस्था देखकर अनुकम्पा करता है, उसी प्रकार वह अपनी आत्मा पर भी अनुकम्पा करता है। उसकी अनुकम्पा, दुःख के कारणों (१८ पापों) के प्रति निर्वेद और सुख के कारणों (मोक्ष के साधनों) के प्रति संवेग लाती है। निर्वेद और संवेग, जीव में 'समत्व' उत्पन्न करते हैं। इसलिए आस्तिक्य के बाद अनुकम्पा और उसके बाद निर्वेद मानना उचित है। बिना आस्था के निर्वेद संभव नहीं है, और बिना निर्वेद के संवेग नहीं हो सकता। जब संवेग निर्वेद ही नहीं, तो समत्व की प्राप्ति कैसे होगी ? अतएव पश्चानुपूर्वी ढंग से आस्तिक्य को प्राथमिकता देना ही उचित होगा। परमतारक प्रभु महावीर के

धर्मोपदेश में भी सबसे पहले आस्तिक्य पर जोर दिया है, जैसे कि–'अत्थिलोए...... आदि (उववाई) श्रद्धा को परम दुर्लभ मानना (उत्त० ३) भी आस्तिक्य के महत्व को सिद्ध करता है। जितना पराक्रम जीव को आस्तिक बनने और बने रहने में लगाना पड़ता है, उतना और किसी में नहीं लगाना पड़ता।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अस्थिरता

सम्यक्त्व तीन भावों में होती है,–१ औपशमिक २ क्षायिक और ३ क्षायोपशमिक। औपशमिक सम्यक्त्व किसी भी जीव को पाँच बार से अधिक प्राप्त नहीं होती और क्षायिक सम्यक्त्व तो एक बार ही प्राप्त होती है। औपशमिक सम्यक्त्व तो अवश्य ही नष्ट होती है और क्षायिक अमर है। यह आने के बाद स्थिर ही रहती है। उपशम में मिथ्यात्व के बीज सुरक्षित रहते हैं, परन्तु क्षायक में तो समूल नष्ट हो जाते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की दशा विचित्र होती है। यह एक भव में उत्कृष्ट हजारों बार (९ हजार बार तक) आ जा सकती है। और इसका विस्तार भी संसारी जीवों में सर्वाधिक होता है। औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व वाले संसारी जीवों से, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी असंख्यगुण अधिक होते हैं। इस सम्यक्त्व के स्वामी श्रीगौतमस्वामीजी महाराज जैसे भी होते हैं, जो गुणवृद्धि के द्वारा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं, और ऐसे जीव भी होते हैं–जो ६६ सागरोपम से अधिक काल तक कायम रखकर मुक्त होते हैं, किंतु इसके विपरीत ऐसे जीव भी होते

हैं, जो प्राप्ति के बाद थोड़े ही समय में (अन्तर्मुहूर्त में) ही गँवा देते हैं। इस सम्यक्त्व वालों में से अधिक संख्या ऐसे जीवों की होती है, जो स्थिरता के अभाव में मिथ्यात्व के झपेटे में आ जाते हैं। जो स्थिरता क्षायिक सम्यक्त्व में है, वह क्षायोपशमिक में नहीं है। क्षायक सम्यक्त्वी सर्वथा निर्भीक होता है। संसार की कोई भी शक्ति उस अजेय आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। किंतु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के लिए खतरे के स्थान अनेक हैं। परिस्थिति से प्रभावित होकर मिथ्यात्व की प्राप्ति उसमें संभव हो जाती है। जिस प्रकार कमज़ोर और बीमारी के अंशवाले व्यक्ति पर छूत रोग (संसर्ग से उत्पन्न होने वाले रोग) शीघ्र असर कर जाते हैं, उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले जीवों पर मिथ्यात्व का असर शीघ्र हो सकता है, क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी आत्मा में दर्शन-मोहनीय कर्म के दलिक मौजूद रहते हैं। जिस भव्य आत्मा में क्षयोपशम की तीव्रता अथवा तीव्रतमता होती है, वह तो मिथ्यात्व के झपेटे से—क्षायिक सम्यक्त्वी की तरह, बच जाता है। उसके वे दलिक नष्ट हो जाते हैं। किंतु जिनका क्षयोपशम मन्द होता है, वे आक्रमण के शिकार हो जाते हैं और मिथ्यात्व के भयंकर जाल में फँसकर दुःखी हो जाते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीवों में से ही दर्शन भ्रष्ट होते हैं, क्योंकि इसमें हायमान परिणाम वाले अधिक होते हैं और भय के स्थान भी इसीके लिए है। औपशमिक सम्यक्त्व के लिए तो पतन का एक आंतरिक कारण ही होता है, किंतु क्षयोप-

शम की मन्दतावाले सम्यक्त्वी जीवों में तो उपादान और निमित्त भी जोरदार असर कर जाते हैं। जमाली और उसके अनेक साथियों तथा महासती सुदर्शना के मिथ्यात्व को उदित होते, स्वयं भगवान् महावीर जैसे उत्कृष्टतम निमित्त भी नहीं रोक सके, और बिछौने जैसा सामान्य निमित्त भी जमाली आदि श्रमण श्रमणियों के मिथ्यात्वोदय का कारण बन गया। भगवान् महावीर के समीप रहते हुए भी श्री मेघ मुनि का मन्द क्षयोपशम, दर्शन-मोह के उदय के आगे टिक नहीं सका और मिथ्यात्व आ धमका। मन्द क्षयोपशम वाले जीवों की ऐसी दशा हो जाती है। इसीलिए महान् उपकारी जिनेश्वर भगवंतों ने हमें सावधान रहने का उपदेश दिया है। हमें चाहिए कि उन परमोपकारी जिनेश्वरों के वचनों पर विश्वास करके उन दोष के स्थानों से बचते रहें।

खतरे के स्थान

हमने यह तो मान लिया कि जिसके हृदय में निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति दृढ़ श्रद्धा है, वह सम्यग्दृष्टि है। किंतु निर्ग्रन्थ प्रवचन' किसे समझना ? कौन-सी बात निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुकूल है और कौन-सी प्रतिकूल है ? जब हम एक ही परम्परा के मानने वालों में परस्पर मत-भेद देखते हैं—तत्त्व विषयक विभिन्न विचार देखते हैं, तो मति कुंठित हो जाती है। ऐसे समय हम किस मार्ग को अपनावें ? किस कसौटी पर कस कर यह परीक्षा करें कि 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' क्या है ?

प्रश्न उचित एवं सामयिक है। भगवान् महावीर और निर्ग्रन्थ-प्रवचन के नाम पर गलत प्रचार भी हुआ है और हो रहा है। कोई लिखता है–'भगवान् ने सर्व-धर्म समभाव का उपदेश दिया,' तो कोई कहता है कि 'अछुतोद्धार ही परम धर्म है।' एक महात्मा फरमाते हैं कि 'जगत् की भावनाओं के आधीन बनना सबसे उत्तम धर्म है', तो दूसरे उपदेश करते हैं कि 'तर्क की कसौटी पर खरा उतरे उसी को धर्म मानना चाहिए,इसके अतिरिक्त सभी सिद्धांत त्यागने योग्य हैं।' इस प्रकार अनेक विचार प्रचारित होते हैं और ये सब भगवान् के नाम पर होते हैं। इनसे साधारण उपासकों का भटक जाना स्वाभाविक है। यदि ऐसे विचारों का प्रचारक, गुरु पद पर हो और विशेष पढ़ा लिखा हो, तो वह बड़ी चतुराई से, सरलतापूर्वक लोगों के गले में अपने विचार उतार सकता है। यह खतरा अपने जैसों से ही अधिक होता है। दूसरे लोग तो पहले से–'पर' कहलाते हैं। इसलिए उनकी बात पर हमारा विश्वास प्रायः नहीं होता। किंतु अपने होकर जो कुछ कहते हैं, उन पर सामान्य उपासक तो विश्वास करेगा ही। क्योंकि वह मानता है कि 'ये अपने हैं, विद्वान हैं, ये जो कुछ कहते हैं, वह सत्य ही है।' इस प्रकार मानकर वह खरे के भरोसे खोटा भी अपना लेता है। इस प्रकार के परिवर्तकों में "अभिनिवेश" की मात्रा अधिक होती है। उनकी धुन यही है कि 'किसी प्रकार मेरी बात सर्वोपरि रहे। इसके लिए वे कदाग्रह में पड़ जाते हैं, विभेद बढ़ाते हैं और स्व-पर का अहित कर डालते हैं, परन्तु अपने हठ को

नहीं छोड़ते। किंतु जिन धर्म-बन्धुओं का निर्ग्रन्थ-प्रवचन से सतत परिचय रहता है, जिन्होंने निर्ग्रन्थ-प्रवचन के उद्देश्य और आदेश को समझ लिया है, वे इस प्रकार के भुलावे में नहीं आते। उनके पास निर्ग्रन्थ-प्रवचन को समझने की कसौटी है। वे असली और नकली का भेद सरलता से जान लेते हैं।

उनका दृढ़ विश्वास है कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उद्देश्य निराबाध एवं शाश्वत शांति रूप मोक्ष प्राप्त करना है। और उपाय है–संवर और निर्जरा। इन्हें अपना कर लक्ष्य को प्राप्त करना। आस्रव हेय और संवर उपादेय है। संयोग सम्बन्ध हेय और असंगता–निःसंगता उपादेय है। सांसारिक प्रवृत्ति हेय और संयम तथा ज्ञानादि में प्रवृत्ति उपादेय है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ धर्म के उद्देश्य और उपाय को समझनेवाला किसी भी खतरे में नहीं पड़ता। वह समझ लेता है कि असल क्या है और नकल क्या है? किंतु जो भोले-भाले और केवल व्यक्ति विश्वास पर ही रहने वाले हैं, उनके लिये ऐसे लोग खतरनाक होते हैं। यह खतरा, सामान्य व्यक्ति से नहीं, किंतु विशेष व्यक्ति से होता है। जिनका प्रभाव हजारों पर पड़ता है, उन्हीं में से अभिनिवेश के स्वामी अधिक होते हैं। अतएव निर्ग्रन्थ प्रवचन के मर्म को जानकर, ऐसे खतरों से बचकर, सम्यक्त्व को सुरक्षित रखना चाहिये।

दूषण–१ शंका

सम्यक्त्व को मलीन अथवा नष्ट करने वाले कारण ये हैं।

१ शंका-जिनेश्वरों के वचनों में शंका करना, अनन्त ज्ञानियों एवं आगमकारों के वचनों और उसमें रहे हुए आशय को नहीं समझकर उनकी सत्यता में सन्देह करना-खतरे का प्रथम स्थान है। समझने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है-उपादेय है। प्रत्येक वस्तु को हृदयंगम करने के लिए विशेषज्ञों को पूछना तो स्वाध्याय नाम के तप का 'पृच्छा' नामक दूसरा भेद है-गुण है, दोष नहीं है। किंतु उसकी सत्यता के प्रति सन्देह लाना-'शंका' नाम का दोष है। यह दोष यदि आत्मा में घर कर जाय, तो सम्यक्त्व नाशक बन जाता है।

संसार में ऐसी अदृश्य वस्तुएँ अनन्त हैं कि जिनका प्रत्यक्ष हमारे जैसे व्यक्ति नहीं कर सकते। उनके अस्तित्व एवं स्वरूपादि का ज्ञान, आप्त वचनों से ही होता है। यदि हम उन वचनों पर विश्वास नहीं करें और अप्रत्यक्ष वस्तुओं पर अविश्वास करें, तो नास्तिकता ही हाथ लगेगी।

अप्रत्यक्ष तो दूर रहे, हम प्रत्यक्ष वस्तु को भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकते, उन्हें दूसरे अनुभवियों के वचनों पर विश्वास करके उपभोग में लाते हैं। हम अपने शरीर के रोग को दूर करने के लिए वैद्य अथवा डॉक्टर की दी हुई दवाई को विश्वास पूर्वक गले उतार लेते हैं। दवा की शीशी हमारे हाथ में होते हुए भी हम नहीं जान सकते कि इसमें क्या है,-दवा है या विष, या कोरा पानी ही है। अपने हाथ में रही हुई वस्तु में भी प्रत्यक्ष कम और प्रच्छन्न अधिक होता है। अच्छे अनुभवी डॉक्टर के हाथ में एक दवाई की गोली या टिकिया रख दीजिए और

पूछिए कि इसमें क्या क्या गुण हैं और किन किन वस्तुओं से वनी है? वह अनुभवी डॉक्टर, दवा की गोली को प्रत्यक्ष देखते हुए भी कुछ नहीं वता सकेगा। वह उसके विवरण को पढ़ कर भी किसी खास गुण को ही वता सकेगा। जब हमारे हाथ में रही हुई वस्तु को भी (जिसे हम देख रहे हैं) पूर्ण रूप से नहीं जान सकते, तो परोक्ष वस्तु को कैसे जान सकते हैं? इस विषय में अनुभवियों पर विश्वास करना ही पड़ेगा। प्रत्येक विषय में अपनी बुद्धि से तोल कर ही मानने का आग्रह करने वाले और जिन वचनों में शंका अथवा अविश्वास करने वाले लोग, सम्यक्त्व की सीमा से एकदम वाहर हैं।

एक 'जैन पंडित' कहलाने वाले महाशय ने 'श्रमण' अगस्त ५२ के पृ० ९ में "क्या मैं जैन हूँ?" शीर्षक लेख में अपनी नास्तिकता स्वीकार करते हुए लिखा कि—

"आस्तिक वनने की सव से वड़ी योग्यता यही मानी जाती है कि व्यक्ति धार्मिक और दार्शनिक मामलों में स्वयं कुछ न सोचे। दूसरे महान् समझे जाने वाले व्यक्ति ने उसके लिए सव कुछ सोच कर रख दिया है। अतएव स्वयं कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं—यह वात मैं नहीं मानता, इसलिए भी मुझे लोग नास्तिक समझते हैं।"

यह लिखना तो साफ झूठ है कि—"धार्मिक और दार्शनिक विषयों में कुछ सोचना ही नहीं—यह आस्तिकता की सवसे वड़ी शर्त है।" क्योंकि जैन धर्म ने स्वाध्याय के दूसरे भेद में 'पृच्छा' और चौथे भेद में 'अनुप्रेक्षा' को स्वीकार किया है।

हां अपने ही तर्क को पकड़कर अश्रद्धालु नहीं बनना, यही हित-कर है।

जिस वस्तु को पंडितजी नहीं मानते और नास्तिक बनते हैं, किंतु उसी बात को सारी दुनिया मान रही है। खुद भी यदि अपने अध्यापक पर विश्वास नहीं करते और स्वयं सोच विचार करते रहते कि "अध्यापकजी मुझे जो कुछ पढ़ा रहे हैं, वह सही पढ़ा रहे हैं, या गलत ? मैं स्वयं जबतक इसकी परीक्षा नहीं करलूँ. तब तक पढ़ूँ ही नहीं", तो वे पंडित नहीं बन सकते थे। हम अन्यत्र तो छद्मस्थों पर विश्वास करलेंगे, किंतु दर्शन और धर्म के मामले में किसी पर विश्वास नहीं करेंगे। इसका कारण यही है कि कुश्रद्धा के चक्कर में पड़ कर नास्तिक बन गये हैं। उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि—

"नास्तिक शब्द की एक सर्वसम्मत व्याख्या यह भी है कि जो आत्मा और परलोक को न माने। मैं अपनी तुच्छ बुद्धि से अभी तक इस विषय में संदेह ही करता हूँ।" आगे लिखा कि—

"मुझे आत्मा या परलोक का साक्षात्कार है ऐसा मैं नहीं मानता और जबतक ऐसा साक्षात्कार नहीं होता, तबतक आस्तिक की अपेक्षा नास्तिक बना रहना ही अच्छा समझता हूँ।"

आत्मा और परलोक के विषय में पंडितजी को कभी साक्षात्कार हो जाय-यह असंभव ही लगता है। आत्मा को तो वे देख सकते नहीं, क्योंकि वह अरूपी है, और परलोक का साक्षात्कार करेंगे जब की बात है, क्योंकि वह इस जिन्दगी में संभव नहीं है। इस प्रकार ये जीवन भर नास्तिक ही बने

रहेंगे। इस प्रकार जीव संदेहशील बन कर सम्यक्त्व से वंचित रह जाता है, या भ्रष्ट हो जाता है।

साधुओं में शंका के बीज बोने वाले उनके गृहस्थ अध्यापक भी हैं। इस प्रकार के खतरे जैन नामधारी पंडितों से अधिक हुए हैं। कई वर्ष पूर्व की बात है। मारवाड़ में एक मुनिजी ने जिक्र किया था;–

"मुझे एक........जैन पंडित पढ़ा रहे थे। उन्होंने एक दिन जैन सूत्रों की आलोचना करते हुए कहा था कि–सूयगड़ांग में मेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन की लिखी है, जिसमें से एक हजार योजन जमीन के भीतर और शेष ९९००० ऊपर है और वह शाश्वत है। इधर जब हम प्रत्यक्ष में देख रहे हैं कि किसी मकान की दिवाल बनाई जाती है, तो उसकी नींव, ऊपर की दिवाल से चौथे हिस्से में तो रखी ही जाती है, तब भी वह सौ दोसौ वर्षों में ही गिर पड़ती है। फिर ऊपर की अपेक्षा सौवें हिस्से में ही जो वस्तु जमीन में हो, वह ठहर भी नहीं सकती, तो शाश्वत तो हो ही कैसे सकती है ?"

जैन पंडितजी ने शंका का शूल विद्यार्थी मुनि के हृदय में चुभा दिया और विद्यार्थी तो विद्यार्थी ही ठहरे। गुरु पर विश्वास करना विद्यार्थी का साधारण कर्त्तव्य होता है और ऐसे शूल, सरलता से हृदय में पैठ जाते हैं। सुनने के साथ मुझे भी विचार हुआ, किंतु सद्भाग्य से मुझे उसका मर्म समझ में आ गया। मैंने मुनिजी से कहा कि–"जो वस्तु नीचे से बहुत लम्बी चौड़ी हो और ऊपर उसकी गोलाई क्रमशः कम होती

गई हो, तो ऐसी वस्तु तो बिना नींव के भी जमीन पर ठहर सकती है, जैसे ग्रामोफोन का ओंधा रखा हुआ भोंगरा। मेरु पर्वत, पृथ्वी के भीतर १००९०$\frac{10}{11}$ योजन चौड़ा है और पृथ्वी पर १०००० योजन चौड़ा, फिर क्रमशः कम होते होते शिखर पर एक हजार योजन चौड़ा रह गया है। इस प्रकार की वस्तु के डिगने, या गिरने की शंका ही कैसे हो सकती है ?"

इन्हीं पंडितजी ने एक दूसरे मुनिज़ी को 'पासत्थ' विशेषण (जो शिथिलाचारी साधु का है) को भ० महावीर की परम्परा की ओर से, भ० पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं के प्रति व्यंगात्मक बताकर इसका ऐतिहासिक महत्व बताया था। इसके बाद इस विषय में 'श्रमण' के मई ५४ के अंक में लेख भी निकला था। जिसकी आलोचना स० द० सेप्टेम्बर ५४ के अंक में हुई है। अब कई पंडित साधु स्वयं इस दोष को बढ़ा रहे हैं। कोई अपनी मिथ्या मान्यता को प्रचारित करने के लिए, और कोई अपनी ढिलाई को छुपाने के लिए,सूत्र सम्मत विधि-विधानों के प्रति शंका फैलाकर इस दोष को बढ़ा रहे हैं।

धर्मास्ति, अधर्मास्ति, अलोक, स्वर्ग,नरक,परमाणु आदि आदि किसने देखे ? कौन अपने जीवन में साक्षात्कार करता है? जो साक्षात्कार का हठ पकड़े बैठे हैं, वे यों ही रह जायँगे।

जिस प्रकार चोरी, जारी, मानव-हत्या आदि अपराधों का दण्ड स्थानान्तर (कारागृह) में भुगता जाता है, और अमीर लोग गर्मी के दिनों में शिमला मसूरी आदि जाकर आराम का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार महान् अपराधों की सजा

भुगतने के लिए नर्क और सद्‌कार्यों–पुण्य कर्मों का सुखरूप फल पाने के लिए स्वर्ग है, किंतु यह बात तर्क परम्परा में उलझनेवालों के समझ में नहीं आती। वे तो शंकाशील रहकर नास्तिकता के पात्र ही रहेंगे।

संसार में जितने भी मत-मतान्तर हैं, उन सब के अपने अपने सिद्धांत हैं, और उनके अनुयायी तदनुसार मानते हैं, तभी वे उस मत के अनुयायी कहलाते हैं। उसी प्रकार जैनसिद्धांत को माननेवाला ही जैन कहा जा सकता है। जैनसिद्धांत में सम्यग्‌दृष्टि की जो परिभाषा की गई और जो नियम स्वीकार किये गये, तदनुसार माननेवाले ही जैनी या सम्यग्‌दृष्टि हो सकते हैं। इसके विपरीत विचारवाले और उन सिद्धांतों को दूषित करनेवाले तथा उनके विपरीत प्रचार करने वाले जैनी नहीं, सम्यग्‌दृष्टि नहीं, किंतु अजैन एवं मिथ्यादृष्टि ही हैं। धार्मिक विषयों में व्यक्ति के स्वतन्त्र विचारों का कोई महत्व नहीं है, फिर वह कितना ही उच्च विद्वान् क्यों न हो। यदि व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार ही दर्शन का रूप बनता जाय, तो यह मात्र विडम्बना ही है। उस दर्शन का नाश ही समझिए। फिर जितने व्यक्ति उतने दर्शन। इस प्रकार के प्रयत्न, सम्यक् श्रद्धान को नष्ट करने वाले हैं। शंका रूपी राक्षसी से ही मत-विभिन्नता बढ़कर उन्मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

शंका के कई रूप होते हैं। देश-शंका और सर्वशंका। इन दो भेदों में सभी प्रकार की शंकाओं का समावेश हो जाता है। आज कल के पंडितों में सर्वशंका का प्राबल्य दिखाई देता

है। और तो अलग रहे, हमारी कॉन्फरन्स के नेता और 'जैन प्रकाश' स्वयं जैन मान्यता के विपरीत प्रचार कर रहे हैं। जैनदर्शन के लिए यह महान् विपत्ति काल है। रक्षक के रूप में भक्षक इसमें मौजूद हैं। शंकारूपी राक्षसी विराट रूप धारण करके जैनदर्शन को निगल जाने का प्रयत्न कर रही है। कई विद्वान कहे जानेवाले मुनि, मिथ्यात्व की झपट में आकर सम्यक्त्व से खिसक गये। इस महान् खतरे से जो सावधान रहकर **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"**—इस प्रकार दृढ़ श्रद्धान रखेंगे, वे ही इस दूषण से वंचित रहकर सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सकेंगे।

२ कांक्षा

जिसके हृदय में श्रद्धा की जड़ें मजबूत नहीं होती, वह सोचता रहता है कि 'यह अच्छा या वह अच्छा'। व्यक्ति विशेष अथवा किसी भौतिक विशेषता से आकर्षित होकर पर-दर्शन को अपनाने की इच्छा करना—'कांक्षा' दोष है। यह दोष भी कमजोर नहीं है। ढीली श्रद्धावाले लोगों के सामने जब किसी अजैन विशिष्ठ व्यक्ति का आदर्श उपस्थित होता है, तब वह सोचता है कि—"देखो! अमुक महात्मा कितना त्यागी है। देश हित के लिए उन्होंने कितने कष्ट सहे। परोपकार के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया। उनमें सादगी कितनी अधिक है।' इत्यादि इस प्रकार के विचारों से वे दूसरों की ओर आकर्षित हो ही जाते हैं। दूसरी ओर हमारे कुछ पठित

साधु भी अपने विचारों और कार्यों से भोले लोगों को जैनत्व से गिराने के प्रयत्न करते रहते हैं। अभी अभी एक महाराज, सर्वोदय केन्द्र का निरीक्षण करने पधारे थे। कुछ संत महात्मा गाँधीजी के प्रशंसक रहे हैं, कुछ श्री विनोबाजी, नेहरुजी आदि के। इस प्रकार के निमित्तों को पा कर 'कांक्षा' का उदय होना सरल हो जाता है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय, तो जैन धर्म सभी प्रकार की उत्तमता का भाजन है। जो त्याग, तप और पवित्रता, निर्ग्रन्थ धर्म है, वह अन्यत्र कहाँ मिलेगा? दाँत कुरेदने के लिए तृण जैसी तुच्छ वस्तु भी जो बिना दिये नहीं लेते, जो नियम के इतने पावन्द होते हैं कि प्राण दे दें, पर अपने स्वीकृत नियम को नहीं छोड़ें। मौत मंजूर पर सचित्त पानी (प्राण बचाने के लिए भी) पीना मन्जूर नहीं। रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग। एक कौड़ी भी पास में नहीं रखने वाले। उनके पेट भरने के नियम इतने उच्च कि उसकी बराबरी कोई भी दूसरी विचारधारा नहीं कर सकती। जो खुद संसार की आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त हैं और दूसरों को मुक्त करने में प्रयत्यशील हैं, जो संसार को स्थायी (शाश्वत) सुख का मार्ग दिखा कर वास्तविक हित करते हैं, ऐसे निर्ग्रन्थों की बराबरी संसार का कौन संत कर सकता है? कहाँ है, इतना निरवद्य, निर्दोष और पवित्र जीवन? किंतु एक ओर कई निर्ग्रन्थों की ढिलाई तथा सुखशीलियापन और दूसरी ओर अजैन नेताओं का प्रामाणिक जीवन। इसका भौतिक दृष्टि से मिलान करके लोग अदूरदर्शिता के चलते 'कांक्षामोह' में फँस कर

सम्यक्त्व गवाँ बैठते हैं। अभी विश्वप्रेम और जनहित के बहाने श्री डुंगरसिंहजी व नेमीचन्दजी म० इसके झपाटे में आकर मिथ्यात्व के चंगुल में फँस ही चुके हैं। धन्य है वे श्रावक जो मरणान्तक भय सामने मौजूद रहते हुए भी कांक्षा के स्पर्श से दूर रहे।

अभी अभी लाखों अछूत लोग, बौद्ध-धर्मी बने हैं। 'नवभारत टाइम्स' में उनके विषय में लिखा था कि "ऐसे बौद्ध बने हुए परिगणित जातियों के लोगों के सामने एक समस्या उपस्थित हो गई है। सरकार से उन्हें परिगणित जाति होने के कारण जो विशेष सुविधाएँ और सहायता मिलती थी, वह बौद्ध हो जाने पर बन्द हो गई। इससे उन लोगों के सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि वे अब क्या करें? बौद्ध ही रहें, या पुनः पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जायँ? उनके सामने साँप छछुन्दर वाली स्थिति है। इस प्रकार किसी आकाँक्षा अथवा लालसा से धर्म को छोड़ने या दूसरे पंथ को ग्रहण करने वाले अवसरवादी होते हैं। वास्तविक अनुयायी नहीं होते।

३ विचिकित्सा

तीसरा दोष 'विचिकित्सा' के रूप में उपस्थित होता है। 'किसे मालूम इस तपस्या, विरति और कायक्लेश का फल होगा या नहीं?' कुछ लोग, कुश्रद्धा के चलते निर्ग्रन्थों के प्रतिलेखन, प्रमार्जन, प्रतिक्रमणादि को और उपवासादि को देख कर उन्हें 'क्रियाजड़' कह कर घृणा करते हैं। उनकी दृष्टि में

'परोपकार-लोक-सेवा' ही धर्म है। संवर, निर्जरा की साधना में उनका विश्वास ही नहीं। वे इसे व्यर्थ मानते हैं। उनकी दृष्टि में ये सब निष्फल हैं, तभी तो वे कहते हैं कि-"जैन साधु जितना जनता से लेते हैं, उतना देते भी हैं या नहीं ?" इस प्रकार वे अपने आहारादि का मोल करके बदले में उनसे सेवा लेने की भावना रखते हैं। कई लोग श्रमणों को गृहस्थों पर भारभूत मानकर उनको देश के उपयोग में आने की सलाह देते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रमणों की साधना-संयम, तप, स्वाध्यायादि को वे निष्फल मानते हैं। विचिकित्सा तो फल में होने वाले सन्देह को बतलाती है, परन्तु ऐसे लोगों में तो सन्देह की सीमा तोड़ कर मिथ्यात्व घुस गया है।

पंडित सुखलालजी, म० गांधीजी का आदर्श बता कर जैन श्रमणों को जीवन निर्वाह के लिए 'श्रम करने'=स्वावलम्बी बनने की सलाह देते हैं। उनके शिष्य पंडित मालवणिया, भिक्षाचरी को "श्रमिकों के रक्तपान के समान" बतलाते हैं। इस प्रकार कई तरीकों से भोली जनता में करणी के फल के प्रति संदेह घुसाया जाता है। जो साधु, संवर निर्जरा के पालक कहाते हुए भी-मारवाड़ के रेगिस्तान को हराभरा बनाने और महलों को झोंपड़ी की बराबरी में लाने की उत्सुकता व्यक्त करते हैं, उनमें संवर, निर्जरा की करणी में विश्वास कहाँ ? यदि विश्वास होता, तो उस उत्तम साधना के विपरीत प्रचार करते ?

सन्देह रहने तक वह दोष कहा जाता है, किंतु जहाँ सन्देह आगे बढ़ कर विश्वास में परिणत हो जाता है और खुले

आम प्रचार होता है वहाँ तो अनाचार ही मानना पड़ेगा।

४ परपाषंडी प्रशंसा

मिथ्यामति एवं मोक्षमार्ग के विपरीत प्रचारकों की प्रशंसा करना भी जिनधर्म के लिए हानिकारक हो जाता है। कोई कोई अजैन, अपने जप, तप, साधना और प्रभाव में, सामान्य मनुष्यों से कुछ अधिक विशेषतावाले होते हैं। पुण्य प्रकृतियों के उदय से उनकी प्रख्याति भी खूब होती है। वे लाखों करोड़ों के लिए वंदनीय हो जाते हैं। उनके द्वारा जनता की राजकीय अथवा सामाजिक कठिनाइयें दूर होती है, वे लोगों की पौद्गलिक सुविधाओं के लिए प्रयत्नशील बने रहते हैं, उनके जीवन का अधिकांश भाग जनता की सेवा में जाता है, उन के वचन प्रभावशाली होते हैं। इस प्रकार के विशेष व्यक्तियों से प्रभावित होनेवाले लोग, उनकी प्रशंसा करते हैं। उस प्रशंसा से प्रभावित होकर कई जैनी भी अपने धर्म के प्रति अश्रद्धालु होकर उनके और उनके सिद्धांत के प्रति श्रद्धालु बन जाते हैं। जो लोग, धर्म के तत्त्वों को बराबर जानते नहीं, या वंश परम्परा से जैनी बने हुए हैं, या व्यक्ति विशेष के कारण जैन धर्म से सम्बन्धित हैं, ऐसे अनभिज्ञ व्यक्तियों पर दूसरों का प्रभाव पड़ना सरल होजाता है। जैनियों में भैरूं, भवानी, चण्डी, मुण्डी आदि को मानने पूजने का रिवाज चालू होने में एक कारण, परपाषण्डी-प्रशंसा का भी हुआ है। उन मिथ्या देवों की प्रशंसा सुनकर जिन-भक्त अथवा जैन मानेजाने वाले लोग भी

तेल सिन्दूर लगे भैरूँ, भवानी को पूजने लगे। दरगाह और मजार पर माथा रगड़ने लगे।

परपाषंडी-प्रशंसा को "दर्शन भेदिनी विकथा" भी कहते हैं। स्थानांगसूत्र स्थान ७ की सात विकथा में छठी **'दंसण-भेयणी'** कथा है। इसका अर्थ करते हुए श्री अभयदेवाचार्य ने लिखा है कि **"दर्शनभेदिनी–ज्ञानाद्यतिशयितकुतीर्थिक प्रशंसादिरूपाः'**। कुतीर्थियों की प्रशंसा करने से साधारण लोगों का उनकी ओर आकर्षण होता है और उनमें से कई ऐसे भी होते हैं जो जिन-धर्म को छोड़कर उन कुतीर्थियों के अनुयायी वन जाते हैं। इस प्रकार परपाषंडी प्रशंसा से सम्यग्दर्शन का घात होता है।

कभी ऐसा भी होता है कि जब जैन-धर्म में कोई प्रभावशाली युग-प्रधान व्यक्ति नहीं हो, और अजैन मत में युग-पुरुष हो, तब उनके प्रभाव से अधिक जनता प्रभावित हो जाती है। यह कोई अनहोनी बात नहीं है। सौभाग्य, शुभ, पराघात, आदेय और यशोकीर्ति आदि शुभनाम कर्म का उदय मिथ्या-दृष्टियों के भी होता है। इससे वे प्रशंसनीय वन जाते हैं। उनकी दृष्टि असम्यग् एवं अप्रशस्त होते हुए भी, उनकी चर्या प्रशस्त भी होती है। उनका रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार और जीवनचर्या लौकिकदृष्टि से अनुकरणीय होती है। उनके वचनों का प्रभाव पड़ता है, इसलिए दूसरे मतावलम्बी भी उनकी प्रशंसा करते हैं। विरोधी पक्ष भी उनका आदर सत्कार करता है। यदि ऐसे व्यक्ति का कोई विरोध करता है,

तो विरोधी सच्चा और खरा होते हुए भी उसका विरोध प्रभावजनक नहीं होता, क्योंकि उसकी पुण्य प्रकृतियों का प्रभाव उसकी बुराई को भी दबा देता है। महात्माजी की वत्स-घात आदि प्रवृत्ति का हिन्दुओं और जैनों ने खूब विरोध किया, किंतु उनके शुभोदय के आगे विरोध का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। इतना ही नहीं अनेक जैनी, अपनी श्रद्धान् से खिसक कर उनके अनुयायी बन गये। जैनियों के इस प्रकार के परिवर्तन में कोई कोई साधु साध्वी भी कारणभूत बने। उन्होने गाँधीजी को भगवान् महावीर के समकक्ष बिठाने तक की मिथ्या चेष्टा की। इस प्रकार की 'दर्शन-भेदिनी विकथा' से अनेक अज्ञानी भोले जीवों के सम्यग्दर्शन का घात हुआ।

'परपाषंडियों की प्रशंसा नहीं करना'—इस के विपरीत कोई कोई कहते हैं कि 'सद्गुणों की प्रशंसा करने में क्या दोष है? गुणों की प्रशंसा तो होनी ही चाहिये, फिर वह किसी के भी क्यों न हो।' इस प्रकार कहनेवाले को समझना चाहिये कि गुणों की प्रशंसा करनेवाले यदि उस व्यक्ति में रहे हुए दोष नहीं बता सकें, तो भोले लोग, गुण के साथ दोष भी ग्रहण कर लेंगे और उसमें आपकी प्रशंसा कारण बन जायगी। एक व्यक्ति में दो गुण और दो अवगुण है। आपने दो गुणों की तो खूब प्रशंसा करदी, किंतु दोष का सामान्य दर्शन भी नहीं कराया। आपकी प्रशंसा से, आप पर विश्वास रखनेवालों ने उस व्यक्ति पर श्रद्धा करली, और उसके गुण के साथ दोषों को भी अपना लिया। आपकी प्रशंसा उसके दोष ग्रहण में भी कारणभूत बनी।

इस प्रकार 'परपाषंडी-प्रशंसा का खतरा भी सम्यक्त्व के लिए घातक है।

'दर्शन विघातिनी' कथा करने वाले—दूसरों के अतिरिक्त अपने कहलानेवाले भी होते हैं। परपाषण्डी-प्रशंसा' का दोष अपने कहानेवालों (सम्यक्त्वी) को ही लगता है, दूसरों को नहीं। क्योंकि दूसरे तो सम्यक्त्वी है भी नहीं और यह दोष तो सम्यक्त्व का है। जैनी, सम्यग्दृष्टि और जैन श्रमण—गुरुस्थानीय कहानेवाले—जिनके सिर पर जैनत्व के प्रचार का, सम्यक्त्व के पोषण का भार है, वे ही यदि 'परपाषण्डी-प्रशंसा' कर के दर्शन घातक बने, तो यह रक्षक ही भक्षक बनने के समान है। आज बुद्ध, गाँधी, विनोबा, तुकड़ोजी आदि की प्रशंसा करके उनकी ओर आकर्षित करनेवाले कोई कोई साधु भी हैं, समाज के अग्रसर भी हैं और पत्र भी है। जितनी हानि घर के अपने कहानेवालों से होती है, उतनी दूसरों से नहीं। यदि भीषणजी, कानजी आदि दूसरे मतों के होते, तो उनसे इतनी हानि नहीं होती। अपने बनकर ही उन्होंने जैनियों की श्रद्धा बिगाड़ी है। इस प्रकार 'परपाषण्डी प्रशंसा' के खतरे से पूर्ण सावधान रहना आवश्यक है।

इस भेद में हमें उस साहित्य को भी स्थान देना है, जो मिथ्यात्व वर्द्धक है। ऐसे साहित्य की प्रशंसा से लोगों में उसके प्रति आकर्षण बढ़ता है और उसे अपनाने की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति उनके लिए दर्शन-घातक बन जाती है। धार्मिक ज्ञान की परिपक्वता के बिना ही लौकिक विद्या और

उसके अभ्यास से प्राप्त होने वाली 'साहित्यरत्नादि' पदवियों से ललचाकर, शुद्ध श्रद्धान को गँवा बैठते हैं। इसका कारण उस विद्या की प्रशंसा है। जिस प्रकार विषय विकार की प्रशंसा, भोगरुचि उत्पन्न करके चारित्र का घात कर देती है, जिस प्रकार 'चारित्र भेदनी कथा' को भी विकथा कहकर, ऐसी कथा का निषेध किया है, उसी प्रकार 'परपाषण्डी' तथा 'परपाषण्ड प्रवर्तक साहित्य' और पौद्गलिक दृष्टि को बढ़ानेवाले शास्त्रादि की प्रशंसा का भी त्याग होना चाहिये। तात्पर्य यह कि परपाषण्डी, परपाषण्ड और ऐसे साहित्य की प्रशंसा करना भी सम्यक्त्व के लिए खतरे का कारण हो सकता है। इस खतरे से सम्यक्त्व-रत्न की रक्षा करना चाहिए।

प्रश्न–'पर-पाषण्ड प्रशंसा' का सही अर्थ–'पर–पुद्गल' की प्रशंसा हैं, वे पुद्गल-प्रेमी हैं। पुद्गल प्रेम ही आत्मा के लिए पर-पाषण्ड प्रशंसा है। जो लोग इसका अर्थ–'अन्य धर्मावलम्बी की प्रशंसा करना' करते हैं, वे गलत अर्थ करते हैं। इस विषय में आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–पर-पापण्ड प्रशंसा का अर्थ–"पौद्गलिक विकार की प्रशंसा करना, निश्चय दृष्टि से ठीक है. किंतु व्यवहार दृष्टि से 'अन्य मतावलम्वी=मिथ्या दर्शनी की प्रशंसा करना" अर्थ ही सत्य, आगमोक्त तथा युक्ति संगत है। दोप के ये भेद, व्यवहार दृष्टि से ही प्रतिपादित किये गये हैं।

'परपासंडपसंसा' और 'परपासंडसथव' अतिचार, उपासकदसा अ० १ के मूलपाठ में आया है। श्रावक शिरोमणि

श्री आनन्दजी ने जब भगवान् के समक्ष व्रत धारण किये, तब त्रिलोकाधिपति ने अपने श्रीमुख से, आनन्द को श्रमणोपासक के व्रत में लगने वाले दोषों को बताकर सावधान किया। भगवान् ने विरति के दोष तो बाद में बताये, किंतु श्रावक के दर्शन गुण को बिगाड़ने वाले शंकादि पाँच दोषों को सब से पहले बताए। इसमें 'परपाषण्डप्रशंसा' और 'परपाषण्ड संस्तव' ये दोष, क्रमशः चौथा और पाँचवाँ है। इनका अर्थ, टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी ने अन्य-दर्शनी की प्रशंसा करना बतलाया है। उपासकदसा की जितनी भी आवृत्तियें प्रकाशित हुईं, उन सब में ऐसा ही अर्थ, जिनेश्वर भगवान् द्वारा भाषित अतिचारों का हुआ है और महानुभाव आनन्दजी ने भी यही अर्थ समझा था, तभी तो भगवान् द्वारा समस्त अतिचारों को बता देने के बाद उन्होंने अपनी सम्यक्त्व शुद्धि की तत्परता का इकरार करते हुए निवेदन किया कि–

"प्रभो ! मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि आज से कभी भी अन्यतीर्थिक = जैनतीर्थ–संघ से भिन्न इतर तीर्थवाले–कुतीर्थी को, अन्ययूथिकदेव–हरिहरादि देवों को, अन्ययूथिक परिग्रहित को–जो जैन तीर्थ को छोड़कर अन्य तीर्थी में चला गया हो, इनको वन्दनादि करना, बिना बोलाए बोलना और भक्ति पूर्वक असनादि प्रतिलाभ नहीं करूँगा।' इस विषय में उपासकदसा सूत्र का मूलपाठ–"नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए ....स्पष्ट साक्षी है। महामना आनन्दजी ने श्रावक के व्रतों की प्रतिज्ञा तो की, किंतु दर्शन संबंधी प्रतिज्ञा नहीं हुई

थी, जब प्रभु ने अतिचारों का उपदेश करते हुए सर्व प्रथम दर्शनाचार में लगनेवाले दोषों का दिग्दर्शन कराया, तो आनन्दजी सम्हल गये और प्रभु का उपदेश पूर्ण होते ही भगवान् को वंदना नमस्कार करके दर्शनाचार संबंधी उपरोक्त प्रतिज्ञा कर ली। भगवान् ने अतिचारों में परपाषण्डी प्रशंसा और 'परपाषण्डी संस्तव' का दोष बताया, तब श्री आनन्दजी ने इनको त्यागने के लिए अन्ययूथिक शद्व से प्रतिज्ञा की। श्री आनन्दजी की प्रतिज्ञा के शद्व टीकाकार के अर्थ को सिद्ध कर रहे हैं। यदि कोई अन्ययूथिक का अर्थ भी 'पुद्गल प्रशंसा' करे, तो आगे आये हुए, 'वन्दना नमस्कार बोलना तथा आहारादि प्रतिलाभ का संबंध वे पुद्गल के साथ कैसे जोड़ेंगे ?

'परपाषण्ड प्रशंसा' का अर्थ टीकाकार ने तथा अन्य अर्थकारों ने—'अन्य तीर्थी की प्रशंसा नहीं करना' किया है, वह सत्य ही है। इसकी पुष्टि आनन्दजी की प्रतिज्ञा से ही हो जाती है। इतना ही नहीं, उत्तराध्ययन अ. २८ के 'कुदंसणवज्जणा' नामक दर्शनाचार के विधान से विशेष सिद्धि हो जाती है। श्री गौतम भगवन् ने केशी श्रमण महाराज को कहा था कि—

"कुप्पवयण पासंडी, सव्वे उम्मग पट्ठिया,
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गेहि उत्तमे।"

यह प्रमाण भी परंपरागत अर्थ को पुष्ट कर रहा है।

आचारांग तथा भगवती के—'निग्गंथं पावयणं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे'—पाठ, निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त

अन्य प्रवचन को अनर्थ कारक बता रहा है। यह पाठ भी-'सेसे अणट्ठे' शब्द से अन्य दर्शनी के प्रवचन को त्याज्य घोषित कर रहा है।

परपाषण्ड प्रशंसा का अर्थ 'श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति में-

'संका कंखा विगिच्छा, पसंसतहकुलिंगीसु, संथवो' इस गाथा की व्याख्या में-'**सर्वज्ञप्रणीतधर्म व्यतिरिक्तानां कुलिंगिनां वर्णवाद प्रशंसोच्यते......... शाक्यपरिव्राजकादिभः सह यः संवसन-भोजनादिऽऽलापादिलक्षणः परिचया**"। 'धर्म संग्रह' के ४२ वें श्लोक तथा इसकी टीका का भी यही अभिप्राय है।

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं और ये अर्थ निश्चय दृष्टि से किये हुए अर्थ के प्रतिकूल भी नहीं है। क्योंकि 'परपाषण्डी' लोग, व्यवहार धर्म की दृष्टि से भी परिचय के योग्य नहीं है, तब निश्चय दृष्टि से तो हो ही कैसे सकते हैं? तथा कुतीर्थी लोग, पुद्गलाभिमुखी विशेष होते हैं। जो आत्मवादी कहलाते हैं, वे भी स्वरूप की अज्ञानता से विपरीत दृष्टा होते हैं,इसलिए वर्जनीय हैं। अतएव प्रचलित अर्थ सत्य है, तत्य है एवं सप्रमाण सिद्ध है। इसे गलत कहने वाले स्वयं भ्रम में पड़े हुए हैं।

परपाषण्ड प्रशंसा और परपाषण्ड संस्तव, अतिचार,पूर्व के शंकादि तीनों अतिचारों को उत्पन्न करने वाले हैं और अनाचार तक पहुँचा कर मिथ्यात्व में ले जाने वाले हैं। अतएव इनका निवारण आवश्यक है।

५ परपाषंड परिचय

यह दोष अति भयंकर है। सोबत का कुछ न कुछ असर हो ही जाता है। जिस प्रकार संक्रामक रोग की लपट में साधारण जनता आजाती है, उसी प्रकार दूसरों के परिचय का असर भी न्यूनाधिक होता ही है। अच्छे परिचय का अच्छा प्रभाव होता है और बुरे का बुरा। सम्यक्त्व की प्राप्ति, वृद्धि और शुद्धि के लिए 'परमार्थ संस्तव (परिचय) आवश्यक है, तो दोष से बचने के लिए 'परपाषंडी परिचय' से दूर रहना भी उतना ही आवश्यक है। 'परमार्थपरिचय' सम्यक्त्व को दृढ़ीभूत करता है, तो 'परपाषंडी परिचय,' सम्यक्त्व को नष्ट करने का कारण बन जाता है। इसलिए श्रमणो और श्रमणोपासकों के लिए इस दोष से दूर रहने का विधान किया गया है।

विश्वपूज्य, परम वीतराग भगवान् महावीर प्रभु ने श्रावकशिरोमणि श्री आनन्दजी को सम्बोधन करते हुए फरमाया कि –"**एवं खलु आणंदा ! समणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा ण समायरियव्वा, तंजहा– संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवे**"। (उपासकदसा)

भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर आनन्द प्रतिबोध पाया और उसने श्रावक के व्रत धारण किये। उसके व्रत ग्रहण करते ही उपरोक्त सूत्र से आनन्द को सम्बोधन करते हुए भगवान् ने सबसे पहले पांचों प्रकार के दोषों से बचते रहने का उपदेश दिया।

प्रथम के तीन दोष तो मुख्यतः खुद के मनोविकार से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें दूसरों की प्रेरणा का बल नहीं भी होता। इसलिए ये दोष तो उचित समाधान होने पर टल भी सकते हैं, किंतु बाद के 'परपाषंड प्रशंसा' तथा 'परपाषंड परिचय'—ये दो दोष अत्यंत भयंकर होते हैं। इनके द्वारा शंकादि की उत्पत्ति होती है और परपाषंड की ओर खिंचाव भी होता है, जिससे पथभ्रष्ट होना अत्यंत सरल हो जाता है। आनन्द, परपाषंड परिचय के खतरे की भयानकता समझ चुका था। इसलिए उसने भगवान् के बताये हुए व्रतों के अतिचारों को धारण कर लिया और इन दोषों से बचने के लिए खासतौर से प्रतिज्ञा की कि—

"नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइं अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थिय देवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा वंदित्तए वा णमंसित्तए वा पुव्वि अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा।"

भगवन् ! मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि आज से 'अन्य तीर्थिकों, अन्यतीर्थिक देवों और सम्यक्त्व का वमन करके अन्यतीर्थिकों में मिले हुए पूर्व परिचितों को वन्दनादि नहीं करूँगा, बिना बुलाये नहीं बोलूंगा और बारंबार भी नहीं बोलूंगा, उन्हें अशन, पान, खादिम और स्वादिम नहीं दूंगा, बारबार नहीं दूंगा।" इस प्रतिज्ञा में आनन्द विशेष रूप से 'परपाषंडी परिचय' से बचने का इकरार करता है। यह सोचने की बात है।

आनंद शंकादि तीन दोषों के लिए प्रकट रूप से कुछ नहीं बोलता, किंतु पिछले दो दोषों के लिए जाहिर में प्रतिज्ञा करता है। इसका कारण यही है कि शंकादि प्रथम के तीन दोष तो हृदय से ही सम्बन्ध रखते हैं, किंतु पिछले दो दोष, प्रकट रूप से दूसरों से ही संबंध रखते हैं। यदि स्वयं दृढ़ हो और उन पर परपाषंड के परिचय का कोई प्रभाव नहीं पड़े, तो भी उसका कुप्रभाव दूसरों पर पड़ सकता है, और उनके परिचय का गलत प्रचार होकर अन्य लोगों के सम्यक्त्व में दूषण का कारण बन सकता है। एक अग्रसर—सैकड़ों हजारों पर प्रभाव रखने वाले व्यक्ति को, यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी किसी प्रवृत्ति का कोई दुरुपयोग नहीं करले। परपाखंडी परिचय का प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने मौजूद है। ओसवाल जाति के लोग सभी जैनी ही हैं, किंतु मेवाड़ मारवाड़ में अनेक ओसवाल वैष्णवादि भी हैं। इसका कारण यह दोष ही है। राजादि के विशेष परिचय में रहने के कारण वे भी उनके मत के हो गये। स्थानकवासी, भीखणजी के परिचय से तेरापंथी और कानजी के परिचय से सोनगढ़ पंथी हो गये, यह सभी जानते हैं। आनन्द हजारों के लिए आधारभूत था, अनुकरणीय था। उसकी प्रवृत्ति का दूसरे लोग अनुकरण करते थे। इसलिए उसने परपाषंड-प्रशंसा और परपाषंड-परिचय का घोषणापूर्वक निषेध किया। उसके इस प्रकट निषेध का, उसका अनुकरण करने वालों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा होगा। वह स्वयं या तो 'संघपति' अथवा संघपति के समान था। संघ रक्षा उसके ध्यान में थी। वह दृढ़धर्मी था,

उसे अपनी व दूसरों की सम्यक्त्व निर्मल रखना था। मिथ्यात्व का वह शरीर द्वारा अनुमोदन भी नहीं करना चाहता था।

कुछ स्वतन्त्र विचारक, आनन्द की इस प्रतिज्ञा को साम्प्रदायिक कट्टरता अथवा अनुदारता या अन्य धर्मियों के प्रति द्वेष-बुद्धि बतलावेंगे। किंतु ऐसा आक्षेप करना बुद्धिमत्ता का सूचक नहीं होगा। प्रत्येक आत्मार्थी एवं परोपकारी व्यक्ति, बुरी संगति से दूर रहने का उपदेश करते हैं। कुसंगति त्याग का उपदेश, हित-बुद्धि से होता है। उसे साम्प्रदायिक कटुता अथवा द्वेष मूलक बताना अज्ञान का परिणाम है। पाषंड-परिचय त्याग की हितशिक्षा में, उस प्राणी को और दूसरों को मिथ्यात्वरूपी बुराई से बचाने का शुभाशय रहा हुआ है। इस लिए श्रमणों को भी अन्य तीर्थियों और गृहस्थों के साथ रहने, आहार विहारादि करने का (आचारांग १–८–१) स्पष्ट निषेध किया है। सूयगडांग सूत्र (१–१४) में स्पष्ट रूप से उदाहरण के साथ लिखा है कि–'जिस प्रकार बिना पंख के पक्षी को मांसाहारी पक्षी दबोच लेते हैं, उसी प्रकार धर्म में अनिपुण व्यक्ति को पाखंडी लोग धर्मभ्रष्ट कर देते हैं।" जब परमार्थ संस्तव के अभाव में ही जीव, नन्दन मनिहार की तरह सम्यक्त्व को गँवाकर मिथ्यात्वी बन सकता है, तो पाखण्ड-परिचय तो उससे भी अत्यधिक भयंकर खतरा है। हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जिस समाज में धर्म-श्रद्धा का अत्यधिक आदर रहा है, निर्ग्रन्थ प्रवचन से किंचित् भी न्यूनाधिक प्ररूपणा को मिथ्यात्व का कारण माना है, तथा जमाली आदि मामूली-सी भूल के

कारण निन्हव मान लिये गये। अब उसी समाज के साधु, निन्हवों से भी अनेक गुण अधिक कुश्रद्धालु बन गये। यह खेद का विषय है।

एक जैन नामधारी पंडित जी, अपने जैसे ही दूसरे पंडित से कहते हैं कि "अजैनों के भगवान् तो रत्न-जड़ित ऊँचे सिंहासन पर बिराजते हैं, किंतु जैनियों के भगवान् (सिद्ध) लोकाग्र पर चमगादड़ (अथवा फाँसी पर लटकते हुए व्यक्ति) की तरह अधर झूलते रहते हैं"। ऐसे पंडित कितने खतरनाक हैं? अजैन कहलानेवाले पंडितों के बनिस्बत ये जैन पंडित अधिक खतरनाक होते हैं। ऐसे ही पंडितों से पढ़े हुए, विद्वान् कहानेवाले प्रखर-वक्ता मुनिजी ने स्त्रियों को पुरुषों के समान बताते हुए उनमें तीर्थंकर बनने की योग्यता बताई थी। जब उनसे कहा गया कि 'स्त्री के तीर्थंकर होने की घटना आश्चर्यजनक है और ऐसा आश्चर्य अनन्तकाल में कभी होता है,' तब वे तपाक से बोले— "यदि स्त्री का तीर्थंकर होना आश्चर्यरूप मानते हो, तो आश्चर्यरूप में तो कभी 'गधा' भी तीर्थंकर हो जायगा'? इस प्रकार की वज्रभाषा कई व्यक्तियों के बीच बोलकर मुनिजी ने (श्रद्धालुओं की दृष्टि से) अपने घोर मिथ्यात्व का परिचय दिया। उनमें यह मिथ्या परिणति 'पाखंड परिचय' के निमित्त से आई और उनका परिचय भी पाखंड-वर्धक साबित हुआ। उनके ऐसे विचारों का जिन लोगों में प्रचार हुआ, उनमें जिनका धार्मिक ज्ञान साधारण या नहीं जैसा था और जो उन पर श्रद्धा रखते थे, वे तो कुश्रद्धालु बने ही होंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह मिथ्यात्व का परिचय करने का परिणाम है।

दर्शनभ्रष्टों की भयानकता

ऐसे 'स्व' कहलाने वाले पाषंडी सबसे अधिक खतरनाक और संस्कृति की जड़ें काटनेवाले होते हैं। उनके परिचय का त्याग, मूल प्रतिज्ञा में ही किया गया है। सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा में दो बातें उपादेय है और दो हेय है।

१ परमार्थ का परिचय करना, कीर्तन करना, आदर करना आदि।

२ सम्यग्दृष्टि और परमार्थ की आराधना करने वाले मुनिराज आदि की सेवा करना।

ये दो पद उपादेय हैं। इनके सिवाय–

१ व्यापन्न वर्जन=जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया=त्याग दिया और सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो चुके, उनकी संगति का त्याग करना।

२ कुदर्शन वर्जन=मिथ्यामतियों की संगति का त्याग करना।

ये दो पद हेय–त्यागने योग्य हैं। त्यागने योग्य प्रतिज्ञा में कुदर्शन त्याग के पूर्व 'व्यापन्न वर्जन को स्थान दिया। इस पर से यह समझना चाहिए कि कुदर्शनी–जन्मजात मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा, श्रद्धा-पतित व्यक्ति अधिक घातक होते हैं। वे जैनी, साधु, या श्रावक कहलाते हैं। वे 'स्व–अपने माने जाते हैं। उनके द्वारा संस्कृति का जितना अहित होता है, उतना कुदर्शनी से

नहीं होता। क्योंकि वे कुदर्शनी तो प्रारंभ से ही 'पर'–दूसरे कहलाते हैं। इसलिए उनपर पहले से विश्वास नहीं होता। व्यापन्न="श्रद्धा-भ्रष्ट" की संगति का वर्जन तो मूल प्रतिज्ञा में ही है। जो व्यापन्न बने हैं, वे प्रायः 'परपाषंड परिचय' से बने होते हैं। अतएव कुदर्शन-वर्जन रूप प्रतिज्ञा के अतिचार में, 'परपाषंड प्रशंसा और परपाषंड परिचय का भी त्याग बताया है। इस दोहरे विधान से इनकी भयानकता सिद्ध हो जाती है। अतएव इस भयानक खतरे से हर समय बचे रहना चाहिए।

हमने ऊपर जिन पंडितों के मिथ्यात्व का उल्लेख किया, उसका समाधान भी कर देना जरूरी समझते हैं, जिससे पाठकों को किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहे।

(१) सिद्ध भगवान् की स्थिति न तो फाँसी पर लटके हुए मनुष्य जैसी है और न ओंधे-मुंह लटकने वाले चमगादड़ पक्षी जैसी है। मनुष्य फाँसी पर बरबस लटकाया जाता है अथवा अत्यंत विवश होकर लटकता है। इससे उसे महान् दुःख होता है। उसके और चमगादड़ के लटकने में अन्तर है। चमगादड़ अपने जाति-स्वभाव से लटकता है। लटकने में वह दुखानुभव नहीं करता, किंतु दूसरे पक्षियों के बैठने की तरह स्वाभाविक दशा का ही अनुभव करता होगा। जिस प्रकार सर्पादि का पेट के बल चलना (सरकना) और मेंढ़क आदि का फुदकना स्वाभाविक है, उसी प्रकार चमगादड़ का लटकना स्वाभाविक है। आकाश में मुक्त रूप से उड़नेवाले पक्षी का उड़ना और जलाशयों में तैरने वाले मत्स्यादि का तैरना स्वाभाविक है। फिर भी ये शरीर

का गुरुत्व लिए हुए होने से एक ही प्रकार की स्थिति में चिर-काल तक नहीं रह सकते। किंतु सिद्ध भगवान् के शरीर का भारीपन नाम मात्र को भी नहीं है। वे अशरीरी हैं, अरूपी हैं और अपनी सहज स्वाभाविक और परम सुखमय स्थिति में स्थिर हैं। उनके लिए इस प्रकार की खोटी कल्पना (वह भी जैन पण्डित करे) तो उनके जैन नाम को कलंकित करने जैसी ही है। अच्छा होता यदि वे जैनी नहीं कहलाते। इन पण्डितों का यह तर्क, मिथ्यात्व के उदय का परिणाम तो है ही, किंतु भोंडा भी इतना ही है कि जिससे सामान्य समझवाला भी इनके तर्क पर हँसे विना नहीं रहे। एक तृप्त और सुखी मनुष्य, सुख शय्या पर आराम से सोया हुआ है। वह सोने में सुखानुभव कर रहा है। उसे कोई कहे कि 'यह मुर्दे की तरह पड़ा सड़ रहा है', और मुर्दे के दुर्गुण की उसमें कल्पना करे, तो उसके जैसा मूर्ख और कौन होगा? इससे भी वदतर दशा है सिद्ध भगवान् के विषय में उपरोक्त कुतर्क करनेवालों की।

२ जैनदर्शन में आश्चर्यभूत उन्हीं बनावों को माना है, जो सामान्य अवस्था में असम्भव है, किंतु विशेष अवस्थाओं में वैसे बनाव कभी बनते हैं। जैसे—स्त्री मुक्त तो हो सकती है, परंतु तीर्थंकर नहीं हो सकती। स्त्री का मुक्त होना आश्चर्यभूत नहीं माना गया। और मुक्त होने की योग्यता वाली स्त्री ही तीर्थंकर हुई है। आश्चर्यभूत उसका तीर्थंकर होना ही है। किंतु गधा (मनुष्येतर प्राणी) तो मुक्त भी नहीं हो सकता, अहमिन्द्र भी नहीं हो

सकता, उच्च कल्पोत्पन्न देव भी नहीं हो सकता, तब ऐसा कुटिलतापूर्ण वाक्-बाण क्यों छोड़ा गया ? यदि कुश्रद्धालु लोग, यह भी कुतर्क उपस्थित कर दें कि "तब तो निगोद का जीव, विष्ठा का कीड़ा या नारक भी........ तो ऐसे कुतर्कियों का मुँह कौन पकड़ सकता है ?

जैनदर्शन में आश्चर्यभूत उन्हीं विषयों को माना है जो सर्वथा अनहोने तो नहीं हो, किंतु सामान्य नियम से कभी कुछ विपरीतता लिए हुए हों। जैसे कि—

१ उपसर्ग, मनुष्यों को होते हैं, श्रमणो, विशिष्ठ श्रमणों और छद्मस्थ तीर्थङ्करों को भी उपसर्ग होते हैं–हुए हैं। उपसर्ग होते होते केवलज्ञान होकर मोक्ष गमन हुआ है। इसलिए उपसर्ग होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किंतु तीर्थंकर हो जाने के बाद उन्हें उपसर्ग होना ही आश्चर्य की बात है। इस आश्चर्य और अनाश्चर्य में अन्तर विशिष्ट स्थिति का है और कुछ नहीं।

२ गर्भहरण सामान्य बात है। यह आश्चर्य की बात नहीं, किंतु तीर्थंकर जैसी महान् आत्मा का गर्भ हरण हो, यही आश्चर्य की बात है।

६ परिषद् प्रतिबोध नहीं पावे, तो यह साधारण-सी बात है, किंतु जगद्गुरु परमवीतराग तीर्थंकर भगवान् के प्रतिबोध से, प्रथम समवसरण स्थित एक भी जीव सर्वत्यागी नहीं बने, यही आश्चर्य की बात है।

इस प्रकार अन्य आश्चर्य भी ऐसे हैं कि जो सम्यक्

विचारणा से समझ में आ सकते हैं। आश्चर्य और अनाश्चर्य में थोड़ा-सा ही अन्तर है। जैनदर्शन के आश्चर्य वैसे नहीं, जैसे अजैनों के देवों की स्वाभाविक दशा होती है (मत्स्यावतारादिवत्)। किंतु सिद्धांत विहीन, कुतर्क जाल में फँसे हुए लोकोत्तर वेशधारी, ऐसे लौकिक विद्वानों की दृष्टि में उनके तर्क ही सब कुछ हैं। उस कुतर्क को वे दृढ़ता से पकड़े हुए हैं।

जिस प्रकार 'परपाषंडी परिचय' त्यागने योग्य है, उसी प्रकार 'परपाषंड प्रतिपादक साहित्य' भी त्यागने योग्य है। ऐसे साहित्य को पढ़नेवाले अधिकांश मिथ्यादृष्टि हो गये हैं। जिन साधुओं ने विश्वविद्यालयों की परीक्षा दी, उनमें से बहुत से दर्शन-भ्रष्ट और चारित्र-भ्रष्ट हुए हैं। उनकी पाठ्य पुस्तकों में सम्यग्ज्ञान युक्त एक भी पुस्तक नहीं होती। सभी पुस्तकें उदय-भाव को प्रोत्साहन देने वाली होती है। जब से स्थानकवासी समाज के साधु 'परपाषंडी ग्रंथों को पढ़कर भाषाविद्, वाक्-पटु तथा डिगरीधारी बनने लगे, तब से मिथ्या प्रचार होने लगा। समाज अब भी चेते और असम्यग् साहित्य, अपने साधुओं को नहीं पढ़ने दें, तो यह बुराई अधिक नहीं फैलेगी। हमारे पूर्वजों ने ढाई हजार वर्ष तक जैनसंस्कृति की विचार शुद्धता को बनाये रखा, किंतु हमने अपने जमाने में सम्यक्त्व-रत्न की रक्षा नहीं की। हमारे कोई कोई धर्मगुरु और उत्तरदायित्व धराने वाली संस्था, खुलेरूप में मिथ्यात्व का प्रचार कर समाज को सिद्धान्त विहीन बनावे और हम यह सब चुपचाप होने दें, तो यह हमारे सिर पर कलंक है। भविष्य में इतिहास यही बतावेगा कि विक्र-

मीय २१ वीं शताब्दी के प्रारंभ में ऐसे सत्वहीन स्था० जैनी हुए कि श्रद्धाभ्रष्टों के द्वारा बिगड़ते हुए समाज को नहीं रोक सके–'चूं' तक नहीं कर सके।

परपाखण्डियों की संगति से सभी खतरे पैदा हो सकते हैं। जिनधर्म के प्रति शंका होती है, परदर्शन को ग्रहण करने की इच्छा होती है, करणी के फल में संदेह होता है। ये सभी खतरे "परपाखंड–परिचय" से उत्पन्न होकर जीव को सम्यक्त्व से भ्रष्ट कर देते हैं। इसलिए इन खतरों से सावधान रहकर बचते रहना अति आवश्यक है।

अंबड़ जैसा पक्का श्रावक–जो पहले परपाखंडी था, भगवान् का उपदेश सुनकर दृढ़ सम्यक्त्वी हो गया था। उसके ७०० शिष्य भी जिनधर्मी हो चुके थे। ऐसा प्रकाण्ड विद्वान् और विशिष्ठ शक्ति सम्पन्न अंबड़ श्रावक (सन्यासी) भी पर-पाखंड से दूर रहने के लिए प्रभु के सामने प्रतिज्ञा करता है। संयती राजऋषीश्वर को क्षत्रीय राजऋषीश्वर, प्रथम मिलन में ही पाखंड से बचे रहने की बात पूछते हैं। तर्क-बल से भले ही कोई इस बात को झुठलाने का व्यर्थ प्रयत्न करे, परंतु परपाखंड परिचय के दुष्परिणाम से इन्कार नहीं किया जा सकता।

श्री जिनवचनों पर श्रद्धा रखना और आगम निर्दिष्ट खतरों से दूर रहना, प्रत्येक धर्म प्रेमी के लिए अत्यावश्यक है।

मिथ्यात्व

'सम्यक्त्व'—यह ऐसा विषय है कि जिसे समझने के

लिए तर्क वितर्क भले हो, किंतु वह श्रद्धा को ठेस पहुँचाने वाले नहीं हो। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यदि कुतर्क जाल में फँस, तो फिर मिथ्यात्व में ही स्थान होता है। शंकादि अतिचारों से तो सम्यक्त्व में मलिनता आती है, वह नष्ट नहीं होती, किंतु जब जिनेश्वरों या उनके बताये हुए तत्त्वों के विपरीत किसी एक भी विषय में निश्चित विचार हो जाता है, तो उसकी स्थिति फिर मिथ्यात्व में ही होती है। जिस प्रकार श्रमणों की साधुता अखंड मोती के समान है, उसी प्रकार सम्यक्त्व भी अखंड मोती के समान है। मोती, यदि किसी भी ओर से किंचित् भी टूट जाय, तो वह श्रृंगार के काम में नहीं आता, किंतु अंगार में रख कर भस्म (मुक्ता भस्म) करने के काम में आता है। सम्यक्त्व सोने की वह डली नहीं, जो जितना चाहो, उतना ले लो और बाकी छोड़ दो। श्री प्रज्ञापना सूत्र के २२ वें पद में लिखा है कि 'मिथ्यात्व का त्याग सभी द्रव्यों से होता है।' जब सभी द्रव्यों में मिथ्यात्व छूटेगा, तभी सम्यक्त्व होगी। जो तत्त्व के किसी अंश में श्रद्धालु है, वह जिनेश्वरों के केवलज्ञान में अविश्वासी है और केवलज्ञान में अविश्वासी है, वह जिनेश्वरों में ही अविश्वासी है। जिनेश्वरों में अविश्वासी होने वाला जैनी हो ही नहीं सकता। जिनेन्द्र प्ररूपित किसी एक वस्तु या उस वस्तु के किसी अंश पर अश्रद्धा होना, और जिनेश्वरों पर अश्रद्धा होना दोनों बराबर ही है।

जब जिज्ञासा अपनी सीमा से आगे निकल कर शंका का रूप ग्रहण करती है, तब सम्यक्त्व में अतिचार लगता है,

किंतु जब वही शंका कुश्रद्धा को उत्पन्न कर देती है, तो फिर अनाचार बनकर मिथ्यात्व के गर्त में ढकेल देती है। अतएव सम्यक्त्वी को सदैव सावधानी पूर्वक सम्यक्त्व की रक्षा करनी चाहिए।

मिथ्यात्व वह भयानक बुराई है जो जीव को अनन्त जन्म मरण में जोड़कर दुःख परम्परा को बढ़ाती रहती है। इसके समान आत्मा का शत्रु और कोई नहीं है। यों तो अविरति, प्रमाद और शेष कषायें भी आत्मा के लिये दुःख-दायक है, लेकिन सम्यक्त्व अवस्था में इनका जोर उतना नहीं चल सकता। उस समय इनकी शक्ति मन्द रहती है। सम्यक्त्व रूपी शूर के प्रकट होते ही अनन्त भव-भ्रमण में जोड़ने वाले मिथ्यात्व को या तो भूमिगत हो जाना पड़ता है, या नष्ट होना पड़ता है। मिथ्या तिमिर के लुप्त होते ही आत्मा, दीपक के प्रकाश में आ जाता है। उसे अपने शाश्वत घर का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है। फिर अपनी शक्ति के अनुसार संसार अटवी को लांघकर अपने शाश्वत स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। यदि इस दीपक की लौ जलती रही, उसमें सम्यग्ज्ञान का स्नेह मिलता रहा और मिथ्यात्व रूपी वायु से रक्षा होती रही, तो यह दीपक, मशाल बन जायगा और आगे चलकर सूर्यवत् बन जायगा। यदि मिथ्यात्व मोहनीय के झपाटे से सम्यक्त्व रूपी दीपक बुझ गया, तो फिर मिथ्यात्व के खड्डे में गिरना होगा।

मिथ्यात्व रूपी रोग महा-भयानक होता है। इसकी स्थिति तीन प्रकार की मानी गई है।

१ अनादि अपर्यवसित मिथ्यात्व

सदाकाल, शाश्वत रूप से जम कर रहने वाला, जो कभी पृथक् हो ही नहीं सकता। इस प्रकार के मिथ्यात्व के धनी को 'अभव्य' कहते हैं। अभव्य सदा अभव्य (मुक्ति पाने के अयोग्य) अर्थात् मिथ्या दृष्टि ही रहता है। आचार्यों ने यही दशा जाति-भव्य * की भी मानी है। अभव्य, उस वंध्या-स्त्री जैसा होता है कि जिसे पुरुष का योग प्राप्त होने पर भी पुत्र की प्राप्ति नहीं होती--हो ही नहीं सकती। और आचार्यों के अनुसार जाति भव्य, उस युवती विधवा जैसा है कि जिसमें पुत्रोत्पत्ति की योग्यता होते हुए भी, पुरुष का योग नहीं मिल सकता। इसलिये वह भी पुत्र प्राप्ति से वंचित रहती है। पुत्र रूप फल से तो वंध्या भी वंचित रहती है और विधवा भी, किंतु वंध्या तो अपनी अयोग्यता से वंचित रहती है और विधवा योग्यता होते हुए भी साधन का सुयोग नहीं मिलने से वंचित रहती है। इस प्रकार मोक्ष की अपेक्षा से तो अभव्य और जाति भव्य समान ही है, अन्तर है तो केवल योग्यता का।

२ अनादि सपर्यवसित मिथ्यात्व

अनादिकाल से चले आते हुए मिथ्यात्व का अन्त होना। यह मिथ्यात्व, उन सभी प्राणियों को था, है और रहेगा, जो 'भवसिद्धिक' हैं। भूतकाल में जिन अनन्त आत्माओं ने पहले

---

* आगमों में जातिभव्य का भेद दिखाई नहीं दिया। भगवती सूत्र में सभी भव्यों को सिद्ध होने योग्य बतलाया है।

मिथ्यात्व नष्ट किया और सम्यक्त्व प्राप्त की, वे सभी अनादि मिथ्यादृष्टि ही थे। मुक्ति प्राप्त सभी सिद्ध भगवान् भी पहले अनादि मिथ्यादृष्टि थे। उन्होंने ग्रन्थी-भेद करके सम्यक्त्व प्राप्त की। वर्त्तमान में भी ऐसे जीव हैं, जो अनादि मिथ्यात्व को दबाकर या नष्ट कर (महाविदेह में) सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, और अनन्त जीव ऐसे हैं जो अभी तो अनादि मिथ्यात्व में ही पड़े हैं, लेकिन भविष्य में कभी भी मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यत्व प्राप्त करेंगे।

३ सादि सपर्यवसित मिथ्यात्व

मिथ्यात्व की आदि भी है और अन्त भी। दूसरे प्रकार में मिथ्यात्व को अनादि बतलाया और मिथ्यात्व, समष्ठि और व्यक्ति की अपेक्षा भी अनादि ही है। यह जीव के साथ सदा से लगा हुआ ही रहता है, फिर यह तीसरा भंग कैसे बना? समाधान है कि जीव अनादि मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्वी बनता है, किंतु इसका यह नियम नहीं है कि वह फिर कभी मिथ्यात्व में जा ही नहीं सकता। एक क्षायिक सम्यक्त्व के सिवाय, उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व में पतन की संभावना रहती है, अर्थात् सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व में प्रवेश हो जाता है। दूसरी बार मिथ्यात्व की प्राप्ति ही उस मिथ्यात्व की आदि बतलाता है। बस यही भेद तीसरे प्रकार का है। इस भेद वाला प्राणी गफलत में आकर मिथ्यात्व में गिर पड़ता है, किंतु उस मिथ्यात्व में वह अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन काल से अधिक नहीं रहता। सम्यक्त्व के पूर्व संस्कार उसे

मिथ्यात्व से निकाल ही लेते हैं। इस प्रकार यह पतन अस्थायी होता है। इस भेद वाले सभी प्राणी अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उत्थान और पतन एक दो या तीन बार ही नहीं, लेकिन हजारों बार हो सकता है।

एक भंग और रहता है, जिसका नाम 'सादि-अपर्यवसित' है, लेकिन यह भंग मिथ्यात्व के लिए लागू नहीं होता। 'मिथ्यात्व की आदि हो और अन्त नहीं हो'—ऐसा कोई भेद नहीं है। हाँ, मुक्त जीवों के लिए यह भेद लागू हो सकता है कि—'उनकी कर्म-मुक्ति=संसार मुक्ति' सादिअपर्यवसित है और क्षायिक सम्यक्त्व भी सादि-अपर्यवसित होती है। मिथ्यात्व के विषय में यह भंग शून्य ही है।

जिस आत्मा के असंख्य प्रदेशात्मक क्षेत्र में मिथ्यात्वरूपी विष रमा हुआ होता है, उसमें विरति (त्याग, प्रत्याख्यान) अप्रमत्तता और कषाय रहितता (वीतरागता) तथा सर्वज्ञता रूपी गुण उत्पन्न नहीं होते। इन सब गुणों का उत्पत्ति स्थान सम्यक्त्व ही है। सम्यक्त्व, आत्मरूपी क्षेत्र को शुद्ध करके उसे गुणोत्पत्ति के योग्य बना देती है फिर विरति आदि गुणों से पवित्र होती हुई आत्मा, परमात्मरूप बन जाती है।

जिन भव्यात्माओं में सम्यक्त्व गुण बसा हुआ है और जिन्हें सम्यक्त्व से अत्यधिक प्रीति है, तथा जो सम्यक्त्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं, उनका प्रथम कर्त्तव्य है कि वे मिथ्यात्व से अपने को बचाये रहें, दूर ही रहें। मिथ्यात्व से बचने के भेदों को समझना सर्व प्रथम आवश्यक है। अतएव यहाँ

मिथ्यात्व के भेदों का वर्णन किया जाता है।

१ अधर्म को धर्म मानना

जिस मत अथवा आचरण में आत्मा को विशुद्ध करके शाश्वत सुख देने की योग्यता नहीं, जो आत्मा को जन्म-मरणादि दुःखों से नहीं छुड़ा सकता और संसार में रुलाता ही रहता है ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, आरम्भ परिग्रह और कषाय को बढ़ाने वाले अधर्म-प्रवर्तक मतों और क्रियाओं को धर्म मानना, अव्वल नम्बर का मिथ्यात्व है। कई लोग गरीब पशु पक्षियों को बलि चढ़ा कर धर्म मानते हैं, तो कई यज्ञादि में ही धर्म की कल्पना करते हैं। कई कन्यादान करना परम धर्म मानते हैं, तो कई ऋतुदान करना धर्म की आराधना होना कहते हैं। स्थावर तीर्थों की यात्रा और नदियों में स्नान करने से धर्म की प्राप्ति होना मानने वाले भी संसार में करोड़ों हैं। वृक्ष-पूजा, मूर्ति-पूजा, व्यन्तरादि देवों की स्तुति आदि अनेक प्रकार के अधर्म संसार में, धर्म के नाम पर चल रहे हैं। मदिरा मांस, मैथुनादि पंच मकार के सेवन करने रूप अधर्म को धर्म मानने वाले भी इस संसार में है। इस प्रकार संसार में अधर्म को धर्म मानने वालों की जिधर देखो उधर बहुलता दिखाई देती है।

जिस मत में सम्यक् विचार नहीं, जिनके आचार में हिंसा, झूठ आदि अठारह पापों की विरति नहीं, जिनके शास्त्र, विषय कषाय को प्रोत्साहन देने वाले हैं और जिनके तप में

अज्ञान कष्ट कूट कूट कर भरा है, ऐसे अधर्म को धर्म मानना पहला मिथ्यात्व है। जो अधर्म, संसार में भटकाने वाला है, अज्ञान को बढ़ाने वाला है, लोहे के समान त्याज्य है। उसे रत्न के समान सुखदायक धर्म मानना, भयानक भूल है। यदि मनुष्य अपनी बुद्धि का सदुपयोग करके अधर्म को समझ ले और उसे धर्म रूप नहीं माने, तो यह उसकी बड़ी भारी सफलता है।

हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन, परिग्रह और क्रोधादि १८ पाप हैं। भले ही ये अपने खुद के लिये किये जायँ, या दूसरों के लिये अथवा धर्म के नाम पर ही, पाप तो सदैव पाप ही रहेगा। पुण्य, शुभ बन्ध का कारण होगा। आस्रव अपने आप में आस्रव ही है, वह संवर नहीं हो सकता। बन्ध तत्त्व, मोक्ष का विरोधी ही है। इस प्रकार आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु की यथार्थ जानकारी होने पर ही मिथ्यात्व छूट सकता है, अन्यथा नहीं।

यदि कोई सोने को पीतल मानकर लेले, तो यह प्रत्यक्ष में गलत है और इससे उसको हानि उठानी पड़ती है, फिर भी इतने मात्र से वह मिथ्यादृष्टि नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी इस प्रकार ठगा जा सकता है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का संबंध आत्मा के लिये हिताहितकारी विषयों से है। पीतल को सोना समझ कर लेने वाला तो एक बार ठगाता है और वह उतनी बड़ी हानि नहीं है, जितनी कि अधर्म को धर्म मानकर अपनाने में है। विष को अमृत मानकर पीने से भी अधिक भयानक है-अधर्म को धर्म मानकर स्वीकार करना। अतएव अधर्म को

भयानकता समझकर उसे त्यागना सर्व प्रथम आवश्यक है।

मिथ्यात्व में सबसे पहला स्थान अधर्म को धर्म मानने रूप उल्टी श्रद्धा को दिया गया है। यह सर्वथा उचित है। अधर्म रूपी विष को धर्म रूपी अमृत मान कर जीव, अनन्त जन्म मरणादि की महान् दुःख परम्परा में उलझता रहा। यदि जीव, हिंसादि अविरति, प्रमाद, कषाय, आस्रव, तथा बंध रूपी अधर्म को धर्म नहीं मानता—विश्वास नहीं करता, तो वह कुमार्ग में नहीं भटकता, नरक निगोद के दुःख नहीं पाता। मिथ्यात्व का मूल तो इसी में रहा हुआ है। यह पहला कारण ही अन्य सभी कारणों की जड़ है। यदि यह छूट जाय, तो अन्य कारण छूटना सरल हो सकता है। अतएव सबसे पहले अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व को बलपूर्वक नष्ट करना चाहिए और इसके बाद भी सतत सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे अधर्म को धर्म मानने की कुबुद्धि उत्पन्न नहीं हो।

उदय के प्रभाव से हमारे परम पवित्र जैन-धर्म में भी कई प्रकार की गलत मान्यताएँ चल पड़ीं और अधर्म के त्यागी तथा सर्व-विरत कहलाने वाले साधु साध्वी, अन्धाधुन्द प्रचार करने लगे। सबसे पहले चैत्यवाद ने प्रभाव जमाया। भक्ति के नाम पर आरम्भ और सावद्य व्यापार को धर्म मान लिया गया और आरम्भ त्यागी मुनिवर, खुद आरम्भ प्रवर्तक हो गए तथा सावद्य विधानों से ओत-प्रोत ग्रंथ रचडाले। पाखण्ड यहाँ तक फैला कि नदी और कुण्डों में नहाने रूप अधर्म में भी धर्म होने की घोषणा कर दी गई। तीर्थों और देवालयों के सहारे परिग्रह

वढ़ने लगा और त्यागी गुरु परिग्रहधारी बन गए। इसके बाद धर्म क्रान्ति हुई। हंस के समान विशुद्ध प्रज्ञावान् श्री लोंकाशाह ने, दूध में मिले हुए पानी की तरह धर्म में मिले हुए अधर्म को भिन्न किया और विशुद्ध धर्म को पुनः प्रकाश में लाये। यह शुद्धि आन्दोलन वहुत सफल रहा। किंतु वर्त्तमान में यह विशुद्ध परंपरा भी विकारों का घर बन गई। इसके कोई त्यागी प्रचारक, पुनः आरंभजनक सावद्य प्रचार करने लगे। स्थानकों, उपाश्रयों और स्मारकों के आरंभ-समारंभ में उनकी रुचि बढ़ी। इसके लिए वे द्रव्य संग्रह करवाने लगे। गृहस्थों को प्रेरणा देकर, उनसे द्रव्य निकलवा कर ईंट चूना पत्थरादि में लगाने लगे। एक ओर देवालय, उपाश्रय तथा तीर्थ स्थानों के निर्माण में शक्ति लगाई जाने लगी, तो हमारे कोई कोई गुरुदेव, स्थानकों और स्मारकों के निर्माण में अपने चारित्र को होमने लगे। प्रभात-फेरियां, जाप तथा सप्ताहों के जुलूस और तपोत्सव के विशाल आडम्बर करवाकर आरम्भ बढ़ाने लगे और ऐसे आरंभों में स्वयं धर्म की आराधना बताने लगे। कुछ नवपठित लौकिक डिग्रीधारियों ने तो अधर्म (पाप) के कार्यों को ही धर्म समझकर प्रचार करने लगे। उनकी मिथ्यावाणी और लेखनी पर विचार किया जाय, तो उन्हें साधु या सम्यग्दृष्टि मानने में ही मिथ्यात्व लगता है। मिथ्यात्व का नग्न-ताण्डव पिछले ढाई हजार वर्षों में नहीं हुआ, वैसा वर्त्तमान के पठित-मूर्खों=साहित्यरत्नों ने उपस्थित किया है। 'एक नाम और स्थान: श्रमण, अपनी बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता का प्रदर्शन करते हुए हरिजनों को उपदेश देते हैं कि-"आपका कार्य सबसे बड़ा

धर्म है, और आप चाहें तो दूसरे धन्धे भी कर सकते हैं। आप में कोई कोई तो ऐसे हैं जो राष्ट्र का नैतृत्व कर सकते हैं," इत्यादि। एक मुनि मिथ्यात्व भरी वाणी में कई बार बोल गये कि "धरती के धर्म की बात करो, आकाश में लटकते हुए हवाई धर्म की बातें छोड़ो," इसका मतलब परोपकार–लोकहित आदि को अपनाकर, मोक्ष धर्म को छोड़ने से है। इस प्रकार जिनकी वाणी से केवल संवर, निर्जरा, त्याग और विरति रूपी धर्म की ही धारा बहनी चाहिए, वे अधर्म का प्रचार करें और उसे सबसे बड़ा धर्म बतावें, इससे बढ़कर अज्ञान और क्या होगा? स्थानकवासी समाज का दुर्भाग्य है कि आज उसमें इस प्रकार के अधर्म प्रचारक, धर्मात्मा का स्वांग लिए समाज को गुमराह कर रहे हैं।

अधर्म को धर्म माननेवाले मतों से तो संसार भरा हुआ है। एक जैन-धर्म ही ऐसा था जो अधर्म को धर्म नहीं मानता था, परन्तु इसमें भी पंचमकाल के वक्रपने के कारण उल्टी गंगा वह रही है–कुप्रावचनी बढ़ रहे हैं। यह महान् खेद की बात है। अब जो शुद्ध धर्म-कथी हैं, उनका कर्त्तव्य हो गया है कि वे श्रोताओं को धर्म और अधर्म के भेद समझावें। और सुज्ञ श्रोताओं का कर्त्तव्य है कि वे जैन तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके धर्म-अधर्म का भेद समझें। यदि उन्होंने गफलत की और अधर्म को धर्म समझ लिया, तो इस अमूल्य मानवभव और सुयोग की प्राप्ति के वास्तविक लाभ से वंचित रहकर मिथ्यात्व के गर्त में गिर जावेंगे। अतएव इस ओर से पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

२ धर्म को अधर्म मानना

पहला भेद अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व को बताने वाला था, यह दूसरा भेद 'धर्म को अधर्म' मानने रूप मिथ्यात्व को स्पष्ट करता है। कोई कोई जीव ऐसे भी होते हैं कि जो पाप को पाप ही मानते हैं, आस्रव को आस्रव और बंध को बंध ही मानते हैं, इतना होते हुए भी वे धर्म–संवर निर्जरा को, धर्म नहीं मानते। वे धर्म का फल मोक्ष नहीं मानकर पुण्य–दैविक सुख आदि मानते हैं। उन्हें मोक्ष और उसके उपाय के विषय में श्रद्धा नहीं है। हमारे में ऐसे भी नव-शिक्षित पंडित हैं जो धर्म को प्रवृत्ति-मूलक मानते हैं और कहते हैं–"प्रवृत्ति लक्षी निवृत्ति ही धर्म है"। नियमित धार्मिक क्रिया, सामायिक प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, ध्यानादि को वे "जड़क्रिया" कहकर घृणा व्यक्त करते हैं।

यों तो संसार के सभी अन्य मतावलम्वी, जैन आचार विचार को धर्म नहीं मानते। मोक्ष की मान्यता रखने वाले अजैन मतावलम्वी भी उसके उपाय रूप धर्म में भिन्न मत रखते हैं। वे कर्म के स्वरूप और उनको रोकने तथा नष्ट करने के सम्यग् उपाय के प्रति अश्रद्धालु हैं और मोक्ष के स्वरूप को भी ठीक तरह से नहीं जानते। इस प्रकार धर्म को अधर्म मानने-वाला तो सारा संसार है। यह कोई नई बात नहीं है, अजैन विचारधारा सदा से धर्म को अधर्म मानती रही है। नई बात तो यह है कि कोई कोई नामधारी जैन साधु भी धर्म को अधर्म कहते नहीं हिचकिचाते। परिग्रह का सर्वथा–त्रिकरण त्रियोग से त्याग रूप महाव्रत के विषय में, एक नूतन पंडित साधु ने

बोलते हुए कहा था कि "आध्यात्मिकता और भौतिकता एक दूसरे के पूरक हैं, न कि शत्रु। आध्यात्मिकवाद ने भौतिकवाद के विषय में जो धारणाएँ प्रचारित की हैं, वे दोष रहित नहीं है"। आदि,+ इन विचारों को स्पष्ट रूप से एक मुनिजी ने बताया कि 'साधुओं को अपने पेट की समस्या का हल खोजना चाहिए।' तब 'श्रमण' पत्र ने तो साधुओं के अपरिग्रहवाद की निंदा करते हुए गोचरी करने को ही अधर्म (रक्त-पान) बतला दिया। सोनगढ़ पंथ ऐसा निकला कि जिसने एकांतवाद का आग्रह करके आत्मा को उन्नत बनानेवाले व्यवहार धर्म का ही लोप कर दिया।

यदि हममें विवेक है, धर्म, अधर्म और बन्ध के विषय में हमारी धारणा सही है, तो हमें इनके भेदों के विषय में स्पष्ट मन्तव्य रखना चाहिए। संवर, निवृत्ति मूलक ही है। हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह की निवृत्ति, इंद्रियों के विषयों का निग्रह, कषाय विवेक, ये सब निवृत्ति मूलक ही हैं। आत्म-लक्षी है। निर्जरा में भी निवृत्ति का ही बोलवाला है। वंदन, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रवृत्ति रूप धर्म भी निवृत्ति साधने के ही उपाय हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारा ध्येय, सिद्ध होने का है और सिद्ध दशा में कोई बाह्य प्रवृत्ति होती ही नहीं। वहां ज्ञानोपयोग, अकर्मक आत्मवीर्य=शक्ति

+ बाद में इन्होंने ही कहा कि अध्यात्मवाद के अतिरेक ने धर्म की हानि की। वे योग और भोग दोनों को मिलाकर मध्यम-मार्ग बनाना चाहते हैं।

आदि गुण ही है, इसलिए हमारा भी ध्येय अकर्मक=आत्मवीर्य अर्थात् आत्मिक अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आत्मिक सहज सुख ही होना चाहिए और इसके लिए हमारा लक्ष भी निवृत्ति का ही होना चाहिए। यदि हम उदय के जोर से अभी पूर्ण निवृत्ति प्राप्त नहीं कर सकें, तो ध्येय तो वही रखना चाहिए। प्रवृत्ति के लक्षवाले के बंध का अभाव हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्रवृत्ति, परलक्षी अथवा परावलंबन युक्त होती है। उसमें बंध का सद्भाव है ही—भले ही शुभ बंध हो। वंदन वैयावृत्यादि प्रवृत्ति भी परावलंबन युक्त है, किंतु यदि वह अन्य अनन्त परावलंबन से बचकर स्वावलंबन के लक्ष से युक्त हो, तो निवृत्ति साधक ही कही जायगी। प्रवृत्ति में भी लक्ष की भिन्नता होती है। एक प्रभु-भक्ति करता है—लौकिक कामना से, और दूसरा करता है प्रभु की प्रभुता (गुणों) को अपनी आत्मा में जगाने के लिए। भक्ति में समानता होते हुए भी ध्येय में कितना महान् अंतर है? हमें एकांतवादी बनकर उत्तम प्रवृत्ति (वंदन, वैयावृत्य स्वाध्यायादि) को छोड़ना नहीं है, अपनाना है, परन्तु इनका ध्येय निवृत्ति साधक ही होना चाहिए।

सोचिए, सिद्ध भगवंत किसे वंदन करते हैं? किसकी वैयावृत्य करते हैं? सर्वज्ञ हो जाने पर स्वाध्याय की भी क्या जरूरत? ये सब प्रवृत्तिएँ पहले ही छूट जाती है न? जब आप को भी वह स्थिति प्राप्त करनी है, तो उसकी श्रद्धा तो करनी ही होगी, अर्थात् निवृत्ति का ही लक्ष रखना होगा। निवृत्ति ही धर्म है और जो निवृत्ति के लक्ष की ओर बढ़ावे,

वह प्रवृत्ति भी धर्म हो सकती है। निवृत्ति से ही आत्मा उन्नत होती है अथवा यों कहिए कि ज्यों-ज्यों निवृत्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों गुणों का विकास होता है। मिथ्यात्व की निवृत्ति होती है तब चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है और अविरति टलने पर पाँचवां और छठा गुणस्थान प्राप्त होता है। प्रमाद की निवृत्ति सातवाँ गुणस्थान, कषाय की बादरनिवृत्ति से सूक्ष्म संपराय तक की निवृत्ति क्रमशः ८ वें से १० वाँ गुणस्थान, मोह निवृत्ति १२ वाँ गुणस्थान, ज्ञानावरणादि की आत्यंतिक निवृत्ति १३ वाँ गुणस्थान और योग-निवृत्ति १४ वां गुणस्थान। यहाँ निवृत्ति की पराकाष्ठा है। मन वचन और काया की सर्वथा निवृत्ति यहीं होती है और पूर्ण रूप से संवर होता है। इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होने पर ही सादि अनन्त (शाश्वत) सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार सिद्ध है कि धर्म, निवृत्ति प्रधान ही है और ध्येय भी यही होना चाहिए। किंतु आजकल के कुछ विद्वान् कहे जानेवाले व्यक्ति, धर्म के इस रूप को झुठलाकर धर्म को प्रवृत्ति प्रधान कहने की धृष्टता करते हैं। जान बूझकर धर्म का स्वरूप विगाड़ते हैं, अपलाप करते हैं। यह भी मिथ्यात्व का परिणाम है। धर्म के वास्तविक रूप को दवाकर अन्यथा प्ररूपणा करना=धर्म को अधर्म वतलाना. मिथ्यात्व ही है। इस मिथ्यात्व से सदैव दूर ही रहना चाहिए।

३ कुमार्ग को सुमार्ग समझना

जिस मार्ग से संसार का परिभ्रमण वढ़े, जन्म मरण और दुःख की परम्परा चले, वह कुमार्ग है। ऐसे कुमार्ग को

सुमार्ग समझना भी मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वी देव गुरु की मान्यता, देव या धर्म के नाम पर प्राणियों की हत्या–बलिदान–कुरबानी, काफिरों अथवा अनार्यों का हनन आदि अविरति, क्रोधादि कषाय और पाँच इन्द्रियों का पोषण, ये सब संसार परिभ्रमण करने के मार्ग हैं। स्त्रियों के साथ नृत्य करना, ऋतुदान, कन्यादान और तीर्थ-स्नानादि अनेक प्रकार की पापजन्य–संसार-वर्द्धक क्रियाओं को सन्मार्ग मानना मिथ्या मान्यता है।

साधना, साध्य की सिद्धि के लिये ही की जाती है। जब साधक यह मानता है कि–'साध्य मुझ से दूर है, साध्य तक पहुँचने के लिये मुझे उस दूरी को पार करना ही होगा, तब वह उस दिशा में आगे बढ़ता है। यदि वह साध्य के अनुकूल मार्ग पर चले, तो सुमार्ग है और उल्टे या तिर्छे रास्ते से चले, तो वह कुमार्ग है। साध्य के अनुकूल चलना सुमार्ग है और साध्य के विपरीत मार्ग पर चलना कुमार्ग है। चलता तो सारा संसार है, अनादिकाल से जीव चलता ही आया है, उसका मार्ग कभी समाप्त हुआ ही नहीं। सिद्ध के अतिरिक्त कोई स्थिर नहीं हैं, संसारी जीव चलते ही रहते हैं। किंतु अधिकांश जीव संसार की ओर ही चलते हैं। एक बन्धन से छूटने के पूर्व ही दूसरे बन्धन की सामग्री तय्यार कर लेते हैं। कभी ऊँचा (स्वर्ग में) कभी नीचा (नर्क में) और कभी तिर्छा (तिर्यंचादि में), इस प्रकार भव-भ्रमण का मार्ग ही अपनाता है। शुभ कर्म करके स्वर्ग में जाना भी संसार परिभ्रमण ही है। संसार के लक्ष से जो भी क्रिया की जाती है, वह संसार को ही बढ़ाती है और

मुक्ति का लक्ष होने पर भी उसके सही मार्ग की तथा सदुपाय की ठीक जानकारी नहीं होने पर वह भी संसार का कारण बनती है। क्योंकि मार्ग गलत है-कुमार्ग है। बम्बई जाने का लक्ष होते हुए भी यदि बम्बई की दिशा में नहीं चलकर, उल्टे या अगल बगल का रास्ता अपनाया जाय, तो वह कुमार्ग ही होगा और कुमार्ग का आश्रय लेना मिथ्यात्व ही है। कुमार्ग से ईष्ट प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव कुमार्ग का स्वीकार भी मिथ्यात्व ही है।

संसार में दो प्रकार के जीव हैं। एक तो प्रारम्भ से ही कुमार्ग में लगे हुए हैं और दूसरे प्रकार के जीव, पहले तो सन्मार्ग में चलते हैं, किंतु बाद में मति-भ्रम से या किसी के बहकाने से सद्मार्ग को छोड़कर कुमार्ग में लग जाते हैं। जैन श्रमण वर्ग में कई ऐसे भी हैं, जो पहले मोक्षमार्ग में दीक्षित हुए और कुछ चले भी, किंतु बाद में कुशिक्षण, कुसंगति अथवा लोकैषणा में पड़कर सुमार्ग से हट गये। उनकी शक्ति कुमार्ग के प्रचार में लगने लगी। वे दूसरे साधु साध्वी और हजारों लाखों उपासक वर्ग को कुमार्ग में घसीट गए।

बन्धन का मार्ग ही कुमार्ग है-संसार मार्ग है। इसके अनेक भेद हैं। कुछ तो निरे अधोगति-नरक तिर्यंच गति की ओर ही ले जाने वाले हैं और कुछ लौकिक दृष्टि से सदाचार पालन तथा जनसेवा और अज्ञान कष्ट आदि से, देव मनुष्य गति के योग्य बन्धन का उपार्जन कराते हैं। चाहे नरक तिर्यंच गति के हों या फिर मनुष्य और देवगति के ही हों, हैं दोनों ही

बंधन। मुक्ति तो बन्ध विच्छेद और निर्जरा से ही है। मुक्ति की दृष्टि से बन्ध मात्र हेय है। जन्म-मरण की परम्परा वाला मार्ग, सुमार्ग नहीं हो सकता। जिस मार्ग से मृत्युंजय पद की प्राप्ति (बन्ध का नाश) होता हो, वही सुमार्ग है—निर्वाण मार्ग है। इसके अतिरिक्त सब संसार मार्ग है।

जिन्हें सद्भाग्य से या क्षयोपशम के बल से मोक्ष मार्ग प्राप्त हो गया, उनमें से कुछ ऐसे उन्मार्गी भी निकले हैं, जो संसार मार्ग के प्रचारक बन गये हैं। रजोहरण मुखवस्त्रिका रखते हुए भी वे मिथ्यात्व के पात्र बन गये हैं। कोई ग्रामोद्योग रूपी आरम्भ समारम्भ के प्रचारक बन गये हैं, तो कोई स्त्रियों की ओर आकर्षित होकर उनके स्वाच्छन्द्य के पोषक बन रहे हैं। तात्पर्य यह कि संसार मार्ग की रुचि के कारण वे मुक्ति मार्ग से गिर गये हैं।

सम्यग्-दृष्टि जीवों को चाहिए कि वे कुमार्ग को दुःख दायक जानकर उससे दूर ही रहें और आत्म स्वातन्त्र्य (जड़ के बन्धनों से मुक्ति) दिलाने वाले ऐसे जिनेश्वरों के धर्म में अत्यन्त आदरवाले बनकर भव-बन्धनों का छेदन करने में उद्यमवंत होवें।

४ सुमार्ग को कुमार्ग मानना

जिस प्रकार कुमार्ग को सुमार्ग मानना मिथ्यात्व है, उसी प्रकार सन्मार्ग को कुमार्ग अथवा मोक्ष-मार्ग को संसार मार्ग मानना भी मिथ्यात्व है। संसार मार्ग तो अनेक हैं, अगणित हैं और मुक्ति मार्ग केवल एक ही है। जो मार्ग, जीवों को रोग, शोक,

जन्म, जरा, और मृत्यु के दुःखों से सदा के लिए छुड़ा दे, जो पुद्‌गल की पकड़ से मुक्त करके सर्व तन्त्र स्वतन्त्र कर दे, जिसकी आराधना से अखण्ड, अपूर्व, अनुपम और सादिअनन्त-शाश्वत सुखों की प्राप्ति होती हो, वही सुमार्ग है। ऐसे निर्दोष मार्ग को परम वीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंत ही बता सकते हैं। सरागी और छद्मस्थ जीव, ऐसे मार्ग को, जिनेश्वरों के उपदेश से ही जान सकता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं जान सकता। जिनेश्वरों का बताया हुआ मोक्ष-मार्ग, सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र है, अपूर्व है। जीवों के भेद-प्रभेद उनकी विभिन्नता का कारण, सुविस्तृत कर्म-सिद्धांत, आत्मा का स्वरूप, बन्ध के कारण, मुक्ति के उपाय, आत्मा के विकास के अनुसार गुण-श्रेणी, उपशम और क्षपक-श्रेणी का स्वरूप, कर्म क्षय से प्रकट होने वाली आत्मा की अनन्त ज्ञानादि शक्ति का स्वरूप इत्यादि विषयों का प्रतिपादन, ये जिन-प्रवचन में सर्वथा अजोड़ हैं। बन्ध-मुक्ति के उपायों में जो वैज्ञानिक पद्धति है, वह सम्यग् विचारवालों के शीघ्र ही समझ में आ सकती है। जिनेन्द्र भगवान् का उपासक, जिनेश्वरों के उपदेश से जानता है कि—'यह जीव, पुद्‌गल-पक्षी होने से ही अनादिकाल से बन्ध-परम्परा में उलझता हुआ दुखी हो रहा है। पुद्‌गल प्रेम ही दुःख का कारण है और इसकी इच्छा का निरोध, मुक्ति का कारण है। विषय कषाय की स्थिति, पर-लक्ष के कारण ही है। जितनी मात्रा में पर-लक्ष छूटेगा, उतनी मात्रा में मनुष्य पवित्र होता जायगा। जिन-धर्म ने विरति का उपदेश इसीलिये दिया कि जिससे आत्मा, पुद्‌गल की कैद

से आजाद हो जाय।

आत्मा, जड़ के लक्ष से-पुद्गल की संगति से, पर में सुख की आशा लगाकर, जड़ बन्धनों में बंधा है-पराधीन हुआ है, पुद्गल के अधिकार में पड़ गया है। इस पराधीनता से मुक्त होने का मार्ग, एक मात्र आत्म लक्ष से की हुई सद् प्रवृत्ति ही है। पौद्गलिक लक्ष बंधनों को बढ़ाता है और आत्म लक्ष मुक्त करता है। जिसे मुक्ति की अभिलाषा है, उसे बंधच्छेद का मार्ग ही अपनाना पड़ेगा और वह मार्ग, संवर-निर्जरा से भिन्न नहीं हो सकता। संवर,बंधनों की वृद्धि को रोक देता है और निर्जरा, पूर्व बंधनों को काटती रहती है। इन दोनों चरणों से मोक्ष-मार्ग पर चलनेवाला, मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। यही सुमार्ग है। यही त्रिकाल अबाधित मोक्ष मार्ग है। गत अनादि काल में जिन अनन्त जीवों की मुक्ति हुई है, वह इसी सुमार्ग से हुई है। वर्त्तमान में भी यही मार्ग है और भविष्य में भी अनन्त जीव इसी मार्ग पर चलकर मुक्त होंगे। इसके सिवाय अन्य कोई उत्तम मार्ग नहीं है। यह त्रिकाल सत्य मार्ग है। समय का परिवर्तन अथवा जमाने की हवा या जनमत, इस सिद्धि-मार्ग को पलट नहीं सकते। संसार में ऐसी कोई भी हस्ती नहीं जो 'बन्ध' तत्त्व की आराधना से मुक्ति दिला सके। जब धर्म पर जमाने का असर होता है, तो मुक्ति बन्द हो जाती है, मुक्ति मार्ग भी (भरतादि में छठे आदि आरे में) बंद हो जाता है, परंतु जमाने का असर मुक्ति मार्ग को ही पलट दे-ऐसा कभी नहीं हो सकता।

यों तो कषाय के त्याग का उपदेश, अजैन परंपरा में से सांख्य, बौद्ध आदि में भी दिया है और कोई कोई उसका कुछ पालन भी करते हैं। अनन्तानुबंधी के सद्भाव में, उनकी पतली कषायें, उन्हें स्वर्ग में पहुँचा सकती है किंतु मुक्ति नहीं दे सकती। प्रथम गुणस्थान में तीनों शुभ लेश्याएँ हैं, शुक्ल लेश्या भी है, और सयोगी जिनेश्वरों में भी शुक्ल लेश्या है, लेकिन दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। एक जन्म मरण के चक्कर में उलझा हुआ है, उनमें से कोई अभव्य भी है, और दूसरे परम वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, जिन्होंने जन्म के बीज को ही नष्ट कर दिया है। वे शीघ्र ही मृत्युंजयी होने वाले हैं। उन परम वीतरागी भगवन्तों ने मुक्ति का मार्ग बताते हुए कहा कि-'पहले अनंतानुबंधी और दर्शनत्रिक को नष्ट करो। इसके बाद तुम्हारा त्याग, तप और विरति तुम्हें आत्मा से परमात्मा बनने में सहायक होगी। इसके बिना तुम्हारी मुक्ति कदापि नहीं हो सकेगी।

सम्यग्दर्शन और सम्यग् ज्ञान होने के बाद ही विरती, मोक्ष साधक हो सकती है। मोक्ष साधना में सर्व प्रथम सम्यग्-दर्शन की आवश्यकता है। उसके बाद विरति अप्रमत्तता आदि की। सम्यग्दर्शन परंपरा कारण है और संयम, तप अप्रमत्ततादि साक्षात् कारण हैं। यही मोक्ष मार्ग है। यही सुमार्ग है। इस सुमार्ग को जैनेतर लोग, कुमार्ग—कायरों का मार्ग कहते हैं। कुछ जैन नामधारी भी संयम साधना को 'जड़ क्रिया' कहते हैं और उपासकों को संसार मार्ग की ओर आकर्षित करते हैं। कोई कोई

साधुवेशधारी अपने व्याख्यानों और लेखों में इस सुमार्ग के प्रति अरुचि उत्पन्न कर, नगद धर्म (लोक सेवा रूप संसार मार्ग) की प्रशंसा करते हैं। वे सन्मार्ग का लोप करके महामोहनीय कर्म का बंध करते हैं।

वास्तव में एक-मात्र जिनेश्वरों का मार्ग ही सुमार्ग है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ में गणधर भगवान् श्री गौतम-स्वामीजी फरमाते हैं कि—

"कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे।"

उपरोक्त आगम में उन्मार्ग और सन्मार्ग का स्पष्ट रूप से खुलासा कर दिया गया है। सम्यग्दृष्टि जीवों को इस पर पूर्ण विश्वास करके, उन्मार्ग से दूर रहकर, सन्मार्ग की श्रद्धा करनी चाहिये। इसीसे वे मिथ्यात्व से वंचित रह सकेंगे।

५ अजीव को जीव मानना

धर्म, अधर्म और सुमार्ग-कुमार्ग का भेद जानकर, धर्म और सुमार्ग की श्रद्धा हो जाने के बाद, जीव अजीव का सही ज्ञान होना भी आवश्यक है। संसार में मुख्यतः दो ही तत्त्व हैं—१ जीव और २ अजीव। इन दो तत्त्वों का विस्तार ही नव तत्त्व है। छः द्रव्यों में जीवास्तिकाय के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अजीव ही हैं। इन पाँचों में से चार तो अरूपी—अदृश्य हैं, इनमें दृश्यता के गुण—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श नहीं है और पुद्गलास्तिकाय रूपी है—दिखाई देने वाला है। उसमें शब्द,

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है, अर्थात् सुनाई देने वाला शब्द, दिखाई देने वाला वर्ण (रूप) सूंघने में आनेवाली गंध, जिव्हा द्वारा चखे जानेवाले रस और हाथ आदि शरीर से छुए जाने वाले स्पर्श, ये सब पुद्गल–जड़ के लक्षण हैं। धूप, अन्धकार, प्रकाश, छाया आदि भी अजीव के ही लक्षण हैं। दृश्यमान् पुद्गल पदार्थ में भी अनन्त द्रव्य ऐसे हैं कि जो हमारे जैसे चर्मचक्षु वालों को दिखाई नहीं देते। जो सूक्ष्म अर्थात् बहुत बारीक पुद्गल (परमाणु, संख्यात और असंख्यात प्रदेशवाले) हैं, वे तो हमारे देखने में आते ही नहीं और अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य भी हमें सभी दिखाई नहीं देते, किंतु उनमें से कुछ ही दिखाई देते हैं। वायु, गंध, शब्द आदि रूपी अजीव द्रव्य हैं और इन्हें हम जानते हैं, किंतु आंखों से इनका रूप नहीं देख सकते, क्योंकि हमारी आंखें मर्यादा के अनुसार ही वस्तु को देख सकती है।

दिखाई देने वाली सभी वस्तुएँ अजीव ही हैं, उनमें से बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं कि जिनमें जीव का निवास है। जैसे–मिट्टी, पत्थर, पानी, वृक्ष, लता, फल, पुष्प, बीज, अग्नि, कीट, पतंग, कीड़े-मकोड़े, पशु, पक्षी और मनुष्य आदि। इनके सब के शरीर तो अजीव हैं, किंतु अजीव शरीरों में जीव निवास करता है, इसलिए उसे भी 'जीव' कहते हैं।

दृश्यमान वस्तुएँ निरी अजीव भी हैं, जैसे कागज़, कलम, थाली, लोटादि धातु-पात्र, मेज, कुर्सी, चित्र, मूर्ति, घर, मकान, सोना, चाँदी, रुपया, पैसा, वस्त्र, आदि। इन सब को जीव मानना, अथवा सबको एक ईश्वर के ही भिन्न भिन्न रूप समझना गलत

है। क्योंकि ये सब अजीव हैं–जड़ हैं। इनमें आत्मा के गुण नहीं हैं। पहले कभी आत्मा ने इनमें निवास किया था, किंतु वर्तमान में तो ये जड़ ही हैं। इन्हें मिश्र-परिणत पुद्गल कह सकते हैं। ये मुर्दा शरीर की तरह अजीव ही हैं। इन वस्तुओं को जीव मानना और इनके साथ जीव का व्यवहार करना भी मिथ्यात्व है।

कुछ लोग, अजीव में जीव की बुद्धि करके उसे वंदनादि करते हैं और उस अजीव के लिए अनेक प्रकार के आरम्भ करते हैं। कई अज्ञानी जीव, देहभाव में इतने रचे रहते हैं कि उन्हें अपने आत्म-द्रव्य (अपनत्व) का ज्ञान ही नहीं होता। जड़ देह के दुर्बल, रोगी और विनाश से अपना विनाश मानते हैं। जैसे राज-पुरोहित भृगु, अपने विरक्त पुत्रों से कहता हैं कि--

"जहा य अग्गी अरणी असंतो,
खीरे घयं तेल्लमहातिलेसु।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥१८॥ उत्तरा० १४

--पुत्रों ! जिस प्रकार अरणि में अग्नि, दूध में घी और तिल में तेल दिखाई नहीं देने पर भी संयोग से स्वतः उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शरीर में जीव स्वतः उत्पन्न होता है और शरीर के विनाश से जीव का भी नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा भी शरीर की उत्पत्ति के साथ, उसी में उत्पन्न हो जाता है। यह शरीर की ही एक शक्ति है जो शरीर के साथ ही

विनष्ट हो जाती है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा है ही नहीं। इस प्रकार की मान्यता 'तज्जीवतच्छरीरवादी' मत की है। भूत-वादी पाँचभूतों को ही सब कुछ मानता है। इस प्रकार अजीव को ही सब कुछ मान कर आत्मा को भिन्न तत्त्व नहीं मानना या अजीव को ही जीव मानना मिथ्यात्व है। इस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रसित आत्मा, यदि सदाचार का पालन करती है, तो वह भी केवल संसार में शांति, सभ्यता, न्याय, नीति और सहयोग कायम रहे, इसी उद्देश्य से।

कुछ लोग भद्रपरिणामी, प्रकृति के शांत, कोमल और सरल होते हैं। वे विनीत और नम्र होकर सब को प्रणाम करते हैं। चाहे कौआ हो या कुत्ता, बिल्ली हो या चूहा, अथवा पत्थर ईंट और लकड़ी ही हो, सबको प्रणाम करना उनका व्रत होता है। वे सद्गुणी दुर्गुणी का भेद नहीं करते। माता को भी प्रणाम और वेश्या को भी प्रणाम, महात्मा को भी नमस्कार और कसाई को भी नमस्कार। इस प्रकार सबके प्रति शुभ भाव रखनेवाले तामली तापस की तरह (भगवती ३-३) भक्तिमार्गी होते हैं। उनके परिणाम शुभ होते हुए भी उन्हें विवेकशील नहीं कह सकते और उनकी गणना भी 'विनयवादी-मिथ्यादृष्टि' में होती है। उनकी भद्रपरिणति और सरलता, उन्हें शुभ कर्म के उपार्जन में सहायक हो सकती है और उससे वे दैविक सुख प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि विशुद्ध नहीं हो सकती। जहां खलि और गुड़ समान हो, अजीव, पत्थर, लकड़ी और मृतिका में भी जीव बुद्धि (देव बुद्धि) हो और महात्मा तथा

क़साई का भी भेद नहीं हो, वहां सम्यक्त्व कैसे हो सकती है ? जीवन की इच्छा से यदि कोई विष पीवे और उसमें अमृत की कल्पना करले, तो क्या विष अपना प्रभाव नहीं दिखायगा ? भावों की सरलता से मिथ्यात्व मिटकर सम्यक्त्व नहीं हो जाता, आखिर गलती तो गलती ही रहती है और उसका परिणाम भोगना पड़ता है ।

अनात्मवादी नास्तिक तो आत्मा को मानते ही नहीं, इसी तरह पुण्य पाप और स्वर्ग नरकादि भी नहीं मानते । यहां हम उनका जिक्र नहीं करते, हम यहां उन्हीं मन्तव्यों को लेते हैं कि जो अजीव को जीव मानते हैं । जो जड़शरीर को ही सच्चिदानन्द रूप मान कर इसीके पोषण रक्षण आदि में लगे रहते हैं और आत्मा को उससे भिन्न नहीं मानते । जो आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं माने, उनका धर्म अधर्म और संसार तथा मोक्ष मार्ग से सम्बन्ध ही क्या ? वे तो इनकी भी आवश्यकता नहीं मानेगे । धर्म अधर्म आदि की आवश्यकता उन्हीं को है जो आत्मा को माने । उसे देहादि अजीव पदार्थ से भिन्न माने और स्वर्ग नर्क आदि की श्रद्धा भी रखे । अजीव को जीव मानने वाले की भूल मामूली नहीं है, भयंकर भूल है ।

आजकल के वैज्ञानिक एवं चिकित्सा-शास्त्री, रोगों का कारण 'किटाणु' (जीव) मानते हैं । संभव है उनमें किटाणु भी हों और अजीव के बारीक कण (स्कन्ध) भी हों और उन अजीव कणों को भी वे किटाणु कहते हों । हवा में जीव भी उड़ते हैं और रजकण आदि भी उड़ते हैं । सुगन्ध दुर्गन्ध के

पुद्गल भी उड़ते हैं। इसी प्रकार रोग मिश्रित वायु-श्वासादि भी फैलते हैं। उन सब को किटाणु (जीव) ही मान लेना तो भूल ही होगी।

जो विचारवान् मनुष्य, अन्य सत्य विचारों के साथ जीव को ही जीव मानते हैं, अजीव को जीव नहीं मानते, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं और वे ही आत्मविकास साधकर मुक्ति पा सकते हैं।

६ जीव को अजीव मानना

संसार में कई प्रकार के लोग हैं। कई ऐसे भी हैं जो जलचर-मगर-मच्छ में जीव नहीं मानकर अजीव मानते हैं और उन्हें मनुष्य का खाद्य-पदार्थ कहते हैं। उनसे भी अधिक संख्या ऐसी है जो अंडों में जीव नहीं मानती, और ऐसी संख्या तो सर्वाधिक है कि जो पृथिव्यादि स्थावरकाय में जीव का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसे कई धर्म-सम्प्रदाय कहलाते हैं, जो जलाशयों में नहाने में धर्म मानते हैं और पुष्प फलादि, देव के अर्पण करने तथा तपस्या में फलाहार करने में धर्म मानते हैं। यदि वे समझते होते कि 'पानी और वनस्पति में जीव है, इनकी हिंसा का त्याग करना धर्म है,' तो विवेक के सद्भाव में इन जीवों की हिंसा करके धर्म होना नहीं मानते, बल्कि हिंसा से विरत होने में ही धर्म मानते।

छः द्रव्यों में जीव-द्रव्य, संग्रह नय से एक मानते हुए

भी जीव अनन्त हैं और इनके भेद भी अनेक हैं। कई चार ‡ प्राण वाले और कई छः से लेकर दस प्राण वाले हैं। जीव अरूपी है, वह दिखाई नहीं देता। दिखाई देनेवाला केवल शरीर है, जो अचित भी हो जाता है। जीव के अरूपी होने से ही नास्तिक लोग, उसका अस्तित्व नहीं मानते और 'पाँच भूतों के मिलने से बनी हुई शक्ति विशेष' ही मानकर, आत्म तत्त्व का निषेध करते हैं। इन भूतवादियों के मत से पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक और मोक्ष कुछ भी नहीं है। वे परलोक नहीं मानते। उनका सिद्धांत है कि "खूब खाओ, खूब पीयो, खूब ऐश-आराम करो। यदि अपने पास पैसा नहीं हो, तो कर्ज करके भी खाओ, क्योंकि जीवन का सार ही खाना-पीना और मौज करना है। मरने के बाद यह शरीर नष्ट होकर मिट्टी में मिल जानेवाला है। फिर पुण्य और पाप का फल भोगने वाला कोई नहीं रहता।" इस प्रकार जीव के अस्तितत्र से इन्कार करनेवाला मत भी है और वर्त्तमान समय में कई धर्म-निरपेक्ष लोग, स्वर्ग नरकादि की मान्यता पर विश्वास नहीं करने वाले, आत्मा के अस्तित्व के विषय में भी अश्रद्धा रखते हैं। इनमें कुछ पठित जैनी नाम धराने वाले भी हैं। इसका मूल कारण दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय है। जिसके इस कर्म का क्षयोपशम होता है, वह तो अरूपी

---

‡ साधारण वनस्पतिकाय में चार प्राण भी पूरे नहीं होते। उनका जीवन इतना अल्प होता है कि कोई श्वास लेता है, तो निःश्वास नहीं ले पाता और कोई निःश्वास लेता है, तो उच्छ्वास नहीं ले पाता और उसके पूर्व ही मर जाता है। इस प्रकार उनके चार प्राण भी पूरे नहीं हो पाते।

आत्मा को भी रूपी द्रव्य की तरह प्रत्यक्ष मानकर विश्वास करता है, किंतु मिथ्यात्व के उदय से, पढ़े-लिखे लोग, साधक युक्तियों के सद्भाव में भी कुतर्क द्वारा जीव के प्रति अविश्वासी बनते हैं।

भगवान् महावीर के आद्य गणधर प्रातः-स्मरणीय श्रीगौतमस्वामीजी महाराज भी भगवान् से साक्षात् होने तक जीव के अस्तित्व के विषय में शंकाशील थे। यद्यपि वे जीव और स्वर्ग नरक के विषय में प्रकट रूप से निश्चित मत व्यक्त करते थे, और स्वर्ग-कामना से यज्ञादि कराते थे, किंतु उनके हृदय में शंका अवश्य थी। जीव के अस्तित्व के विषय में निश्चय–विश्वास नहीं था। दूसरे गणधर श्री अग्नि-भूतिजी को कर्म में शंका थी। श्री वायुभूतिजी, शरीर और जीव की भिन्नता के विषय में शंकाशील थे। इस प्रकार भगवान् से साक्षात् होने के पूर्व तक सभी गणधर शंकाशील थे और इन्हें आत्मा की किसी एक अवस्था के विषय में शंका थी। (विशेषावश्यक भाष्य) शंका का मूल कारण दर्शन-मोहनीय का उदय और आत्मा तथा उसकी विभिन्न अवस्था का अप्रत्यक्ष होना है। उन सरल आत्माओं का दर्शन-मोह नितान्त कमजोर होकर नष्ट होने के लगभग था। वे उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं करते हुए भी भगवान् की पवित्र वाणी के निमित्त से दृढ़ श्रद्धालु बन गए। उनकी श्रद्धा इतनी दृढ़ हो गई कि जैसे उन्होंने आत्मा का प्रत्यक्ष–साक्षात्कार कर लिया हो।

जीव का अस्तित्व माननेवाले अजैन मतावलम्बी, जीव

का स्वरूप ठीक तरह से नहीं जानते। भिन्न भिन्न अनन्त प्राणियों में कोई केवल एक जीव–ब्रह्म ही मानते हैं, कोई शरीर में केवल अंगुष्ठ प्रमाण जीव मानते हैं और कोई यव प्रमाण। यों अनेक प्रकार से जीव के अस्तित्व के विषय में अज्ञान फैल रहा है।

सूयगड़ांग सूत्र के आर्द्रकीय अध्ययन में एक ऐसे मत का वर्णन है, जो भावना के बहाने से आत्म-वंचना करते हुए कहता था कि 'यदि मनुष्य में 'खलपिंड' और बालक में 'तुम्बी फल' की भावना करके उनको मार कर मांस-भक्षण किया जाय, तो हत्या का पाप नहीं लगता।' इस प्रकार जीव के जीवत्व से (केवल आत्मवंचना पूर्वक) इन्कार करके उसमें अजीव की कल्पना करनेवाला मत भी संसार में है।

जीव तत्त्व को नहीं माननेवाले अथवा गलत रूप से माननेवाले सम्यग्दृष्टि नहीं है। सम्यग्दृष्टि वही है, जो जीव का अस्तित्व माने। उसे सदाकाल शाश्वत माने। कर्म का कर्त्ता और भोक्ता माने। उपयोग लक्षणवाला माने और उचित उपायों द्वारा मोक्ष प्राप्ति होना भी माने। यह जीव की ही शक्ति है कि वह उल्टे प्रयत्न से नरक निगोद में भी चला जाय और सुलटे प्रयत्न से स्वर्ग और मोक्ष भी पाले।

दस लक्षणों से जीव परिणाम जाना जाता है। जैसे–१ गति परिणाम–भिन्न भिन्न गतियों में जन्म लेना। जन्म और मृत्यु जीव की ही होती है, अजीव की नहीं, २ इन्द्रिय परिणाम–जीव का शरीर के साथ इन्द्रिय सम्पन्न होना। चाहे एक इन्द्री-

वाला हो या पूर्ण पांच इन्द्रियवाला। अजीव के इन्द्रियाँ नहीं होती। हां, जीव के छोड़ देने पर उस शरीर में इन्द्रियों का आकार कायम रहता है। इन्द्रियों की प्राप्ति भी सकर्मक जीव को ही होती है, ३ कषाय परिणाम-क्रोध, मान, माया और लोभ, जीव में ही होते हैं, अजीव में नहीं, ४ लेश्या परिणाम-कषायों को बढ़ानेवाली कृष्णादि ६ लेश्याएँ भी जीव के ही होती है, ५ योग परिणाम-मन, वाणी और शरीर का योग, जीव के ही होता है, अजीव के नहीं होता, ६ उपयोग परिणाम-विचार करना, अनुभव करना, मनन करना, ७ ज्ञान परिणाम-जानना, ८ दर्शन परिणाम-विश्वास करना, ९ चारित्र परिणाम-आचार प्रवृत्ति और १० वेद परिणाम-स्त्री, पुरुष और नपुंसक सम्बन्धी भोग कामना। ये सब बातें जीव में होती है, अजीव में नहीं होती। इसलिये जीव का अस्तित्व मानना ही चाहिये। उपरोक्त परिणाम अवस्थानुसार व्यक्त अथवा अव्यक्तरूप से सभी संसारी जीवों में होते हैं। जब कोई मनुष्य अथवा पशु पक्षी, चलना, फिरना, खाना, पीना और श्वासोच्छ्वास लेना बन्द कर देता है, तो हम मानते हैं कि यह मर गया है। यह मरना ही बताता है कि जब तक इसमें जीव का निवास था, तब तक वह उपरोक्त क्रियाएं करता था। अब इसमें जीव नहीं है। वनस्पति भी मरने के बाद सूख जाती है। पृथ्वी आदि में भी परिवर्त्तन हो जाता है। इस प्रकार जीव के अस्तित्व में विश्वास करने के अनेक हेतु हैं। इन पर ध्यान देकर हमें सम्यग् श्रद्धा सम्पन्न बनना चाहिये, जिससे हम मिथ्यात्व के प्रभाव से बच सकें।

७ असाधु को साधु मानना

जिसमें साधुता के गुण नहीं हों, वे सभी असाधु=कुसाधु हैं। कुसाधु को साधु समझने से, वे ही परिणाम निकलते हैं, जो ठग को साहुकार समझने से निकलते हैं। कुसाधु स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डुबोते हैं।

साधुता का वेश धारण करके लोगों को ठगने वाले, दुराचारी, कामी, क्रोधी और लालची तो असाधु हैं ही, किंतु संसार में वे भी असाधु ही हैं जो अपनी अज्ञानता के कारण असाधुता का कार्य करते हुए भी साधु कहलाते हैं। उनमें से कई अभक्षपदार्थों का भक्षण करते हैं, भांग, तमाखू और गांजादि मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं, चलने में जिनकी निर्दोष प्रवृत्ति नहीं, वाणी जिनकी असत्य और कटुभाषण तथा उन्मार्ग-देशना से दूषित है, जिनके खानपान के निर्दोष नियम नहीं हैं, और जिनकी साधना अज्ञान मूलक है, वे सभी असाधु हैं।

कितने ही तो नाम-मात्र के साधु हैं, जो अपने को साधु बताते हुए भी गृहस्थ के समान हैं। वे वेश-मात्र से साधु हैं, किंतु आचरण से गृहस्थ की श्रेणी में ही आते हैं। उनके चाल-चलन अच्छे नहीं हैं। उनकी साधना, अप्रशस्त और संसार परंपरा को बढ़ाने वाली है। कई देवमन्दिरों के आश्रय से अपना जीवन निर्वाह करनेवाले हैं। कई मानपूजा के चक्कर में पड़े हैं, तो कई दूसरों के मुहताज बने हुए हैं। कुसाधुओं के कारण धर्म बदनाम हुआ है और लोगों की दृष्टि में घृणित नजर आने लगा है। लोग कहते हैं कि 'भारत में लाखों साधु हमारे लिए भारभूत हो रहे हैं', ऐसे असाधुओं से बचने के लिए 'भारत-

साधु समाज,' प्रमाणपत्र देने की व्यवस्था करने और राज्य की सहायता प्राप्त करने में प्रयत्नशील है।

अजैन साधुओं का उद्देश्य और लक्ष भिन्न होने से हम उन्हें सम्यग्दृष्टि नहीं मानते, और असंयत अविरत एवं अप्रत्याख्यानी मानते हैं, क्योंकि दृष्टिविष, आचार को भी दूषित कर देता है। दूषित विचार, चारित्र को बिगाड़ देता है। इसीलिए उग्र और विशुद्ध क्रिया होते हुए भी दृष्टि-विकार के कारण आगमकारों ने उनमें पांचों क्रिया मानी है। उनका त्याग, मोक्ष का कारणभूत नहीं होकर, संसार का ही कारण होता है। इसलिए उन्हें "अप्रत्याख्यानी" क्रिया लगना स्वीकार किया है (भगवती १-२) तथा उसकी समस्त साधना, जिनाज्ञा के बाहर होकर आराधना से वंचित माना है (उववाई)। तात्पर्य यह कि बिना ध्येय शुद्धि के थोड़ी या अधिक, मंद अथवा उग्र साधना भी निष्फल होती है-बंध का ही कारण होती है। अतएव विपरीत श्रद्धा के कारण जैनेतर मान्यता युक्त साधना को जैन सिद्धांत, साधुता में स्वीकार नहीं करता।

जैन साधु कहाते हुए भी जिनकी साधना दूषित है, जो साधुता के मूल ऐसे पांच महाव्रतों का सम्यग्रूप से पालन नहीं करते। जिनकी प्रवृत्ति में स्थावर या त्रस जीवों की अहिंसा का विवेक नहीं है, जो प्रकट या अप्रकट रूप से आरंभ जनक कार्य करते और करवाते हैं, तथा आरंभ के कार्यों की अनुमोदना करते हैं, ऐसे कार्य यदि धर्म के नाम पर हों, या परोपकार अथवा लोक-सेवा के नाम पर हों, तो भी वे परमार्थ-सेवी-अना-

ऐसे मुनियों के योग्य नहीं हैं और ऐसे कार्य करने करानेवाले साधु नहीं, असाधु हैं।

सुसाधु के वेश में रहते हुए भी वे असाधु (पाप श्रमण) हैं जो सुन्दर और भव्य उपाश्रय, मुलायम एवं सोसनिक वस्त्र तथा सरस आहारादि में आसक्त हों और ज्ञान ध्यान तथा संयम को भुलाकर, आलसी होकर पड़े रहते हों। जो प्राणियों की यतना नहीं करते, उपकरणों की प्रतिलेखना नहीं करते अथवा अविधि से करते हैं, अपने उपकरणों को अव्यवस्थित रूप से इधर उधर पटकते रहते हैं, इर्यादि पांचों समिति के पालन में बेपरवाही करते हैं, विकथा करते रहते हैं, जिनके उपदेश का लक्ष श्रोताओं का मनोरंजन करना होता है, जो माया का सेवन करते हैं. अभिमान करते हैं. जिनका आचरण अविश्वास-जनक है, जो शान्त हुए विवाद को पुनः पुनः जगाकर झगड़ा करते कराते हैं, जो रसलोलुप होकर मनोज्ञ आहार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, घृत, दुग्ध, दही आदि विगयों का बारबार सेवन करते हैं, सूर्योदय से लगाकर सूर्यास्त तक खाते रहते हैं और आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार पानी आदि का सेवन करते हैं, वे सभी पापश्रमण हैं।

चारित्र धर्म का बराबर पालन नहीं करते हुए भी जो अपने को शुद्धाचारी, तपस्वी तथा उग्र साधु बतलाते हैं, वे वास्तव में असाधु हैं।

आगमों में पांच प्रकार के असाधु-कुशीलियों का वर्णन है, जो अपने को सुसाधु बतलाते हैं, किन्तु वास्तव में वे कुसाधु

ही हैं। उनका संक्षेप में परिचय इस प्रकार है,-

पासत्थ-जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के समीप रहकर भी उनका आचरण नहीं करते और कर्म निर्जरा करने के बदले उलटे कर्मों के पाश में, विशेष रूप से बन्धते जाते हैं। इनमें से देशपासत्थ वे हैं-जो शय्यातरपिंड नित्यपिंड, राजपिंड, अग्रपिंड और जीमनवार आदि दूषित आहारादि लेते हैं और शरीर की शोभा बढ़ाते हैं। और सर्व-पासत्थ वे हैं-जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पालन नहीं करते हुए मिथ्यात्व को अपनाये हुए केवल वेशधारी ही हैं।

यथाच्छन्द-जिन्होंने श्रमण-समाचारी और आगम-आज्ञा की उपेक्षा करदी और स्वच्छन्दाचारी बन गये। ऐसे स्वच्छन्दाचारी, अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं। सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति करते हुए और उत्तम आचार का लोप करते हुए, वे अपने कुतर्क से, विशुद्ध आचार में दोष दिखाते हैं। वे क्रोधी, घमंडी और सुखशीलिए अपने दुराचार का बचाव करने के लिए उत्सूत्र प्ररूपणा करते हैं। मर्यादा बाहर होकर स्त्रियों और साध्वियों से विशेष सम्पर्क रखते हैं।

कुशील-जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार का पालन नहीं करके विराधना करते रहते हैं। मन्त्र,तन्त्र, ज्योतिष और वैद्यक तथा कौतुक आदि दूषित क्रिया करके आजीविका करते हैं।

अवसन्न-संयम से थके हुए, आलसी बनकर जो प्रतिक्रमणादि नहीं करते, यदि करते हैं, तो वह भी अविधि से,

असमय में, अथवा न्यूयाधिक करते हैं। इसी प्रकार स्वाध्यायादि भी नहीं करते या अकाल में करते हैं। आवश्यकी नैषेधिकी आदि समाचारी के पालन में बेदरकार रहते हैं और अनेषणीय आहारादि लेते हैं। उनके पीठ-फलक की ठीक प्रतिलेखना नहीं होती, उनके बिस्तर बिछे ही रहते हैं। इस प्रकार अनेक दोषों के पात्र अवसन्न साधु भी असाधु हैं।

संसक्त—विषयों में आसक्त, पांचों प्रकार के आश्रव में प्रवृत्ति करनेवाले, तीन प्रकार के गारव से युक्त, गृहस्थों से अति परिचय रखने वाले और उपरोक्त चारों प्रकार के कुशीलियों की संगति करनेवाले, तथा जिनके मूलगुण और उत्तरगुण में सभी प्रकार के दोष लगते हों—ऐसे मिश्र परिणाम वाले साधु भी असाधु हैं।

निर्ग्रंथ मुनिराज अनाथीजी ने मगध के अधिपति श्रेणिक को कहा था कि 'राजन्! निर्ग्रंथ धर्म प्राप्त करके भी बहुत से लोग कायरता अपना कर ढीले पड़ जाते हैं। इन्द्रियों के वशीभूत होकर वे स्वाद में आसक्त हो जाते हैं और स्वीकृत महाव्रतों को भंग कर देते हैं। इर्यादि समितियों के पालन करने में उनकी रुचि नहीं रहती। लंबे समय से मुण्डित होकर भी वे थके हुए राही की तरह तप और नियम रूपी मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार खाली-मुट्ठी और खोटा-सिक्का किसी काम का नहीं होता और काँच का टुकड़ा भी रत्न के ग्राहक के लिए निःसार होकर फेंकने योग्य है, उसी प्रकार चारित्रहीन वेशधारी साधु भी त्यागनीय है, क्योंकि वे वीर

के मार्ग से बहिष्कृत हैं-"न वीरजायं अणुजाइ मग्गं"।

जो साधुता का वेश धारण करके उसके द्वारा पेट भराई करते हैं, स्वप्न-फल और सामुद्रिक लक्षण बतलाते हैं और ज्योतिषादि द्वारा लोगों में आश्चर्य उत्पन्न करके कर्म बन्धन को बढ़ाते हुए जीवन निर्वाह करते हैं, इस प्रकार असाधु होते हुए भी जो अपने को साधु बतलाते हैं, वे दुर्गति को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगेंगे।

जो परमार्थ (मोक्ष) में विपरीत भाव रखते हैं, उनकी संयम रुचि भी व्यर्थ है, क्योंकि उनका संयम भी संसार में रुलाने वाला ही होता है।

ऐसे असाधु लोग, विशुद्ध साधु संस्था के लिए बड़े घातक होते हैं। वे सोना मढ़े हुए उस लोहे के समान हैं, जिस-पर विश्वास करके भोले लोग ठगे जाते हैं। लोगों को जितना खतरा विशुद्ध लोहे से नहीं होता, उतना स्वर्ण-मढ़ित लोहे से होता है। अनजान लोग ऊपर से सोने का आभास पाकर ठगे जाते हैं। घर में रहे हुए धन को, जितना खतरा, घर के चोर अथवा भेदिये का होता है, उतना बाहर के अनजान से नहीं होता। इसी प्रकार निर्ग्रंथ संस्कृति को जितनी हानि दूसरे असाधुओं से नहीं हुई, उतनी निर्ग्रंथ साधु का वेश धारण करने वाले असाधुओं से हुई। जिनधर्म का अधिक अनिष्ट ऐसे ही असाधुओं से हुआ है।

मध्ययुग में भगवान् महावीर के वंशज-साधुओं की जीवन-चर्या बहुत बिगड़ गई थी। वे भगवान् के साधु कहाते

हुए भी असाधुता के कार्य करते थे। उनकी असाधुता का वर्णन श्रीहरीभद्रसूरिजी ने 'संबोधप्रकरण' में इस प्रकार किया है,-

"ये साधु नामधारी लोग, चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, अपने लिये देवद्रव्य का उपयोग करते हैं, जैनमंदिर और शाला बनवाते हैं, मुहूर्त बतलाते हैं, ज्योतिष निमित्त बतलाते हैं, भभूति डालते हैं, विविध रंग के सुगंधित तथा धूप से सुवासित किये हुए वस्त्र पहनते हैं, स्त्रियों के समक्ष गाते हैं, साध्वियों का लाया हुआ आहारादि लेते हैं, तीर्थ के पण्डों की तरह धन का संचय करते हैं, दिन में दो और तीन बार खाते हैं, ताम्बूलादि खाते हैं, घृत-दूग्धादि स्निग्ध पदार्थों के प्रेमी हैं, फल खाते और सचित्त पानी पीते हैं, सामूहिक भोजनों (जीमणवार) के प्रसंग के मिष्ठान्न लेते हैं, आहार के लिए खुशामद करते हैं और यदि कोई सत्य-धर्म के विषय में पूछे तो नहीं बतलाते हैं।" आदि

"सूर्योदय होते ही उनका खानपान प्रारम्भ हो जाता है, वे वारबार खाते हैं, लोच नहीं करते हैं, शरीर का मेल दूर करते हैं, भिक्षु की प्रतिमा को धारण करते हुए शरमाते हैं, पांवों में पहनने के लिए जूते रखते हैं, स्वतः भ्रष्ट होते हुए दूसरों को आलोचना करवाते हैं.प्रतिलेखना नहीं करते हैं,वस्त्र, शय्या, उपानह, वाहन, आयुध और ताम्र आदि के पत्र रखते हैं, स्नान करते हैं, तेल की मालीश करते हैं, शृंगार सजते हैं, इत्र फुलेल लगाते हैं। 'अमुक गाँव मेरा, अमुक कुल मेरा'-इस प्रकार ममत्व भाव रखते हैं। स्त्रियों से अति परिचय रखते हैं। वे

मृतक कार्य प्रसंग पर जिनपूजा करने का और मृतक का धन जिनदान में देने का कहते हैं, पैसे के लिए अंगादि सूत्र श्रावकों को सुनाते हैं। शाला में अथवा गृहस्थ के घर में खाजा आदि का पाक करवाते हैं, नाँद मँडवाते हैं, अपने हीनाचारी मृत गुरुओं के दाहस्थल पर चबूतरे बनवाते हैं, बलि करते हैं, उनके व्याख्यान में स्त्रियें उनका गुणगान करती हैं, मात्र स्त्रियों के सामने भी वे व्याख्यान देते हैं और साध्वियें मात्र पुरुषों के समक्ष व्याख्यान देती है। वे भिक्षा के लिए नहीं फिरते हैं अर्थात् अपने स्थान पर ही आहार मँगवा लेते हैं। वे साधुओं की मंडली में बैठकर भी भोजन नहीं करते, सारी रात वे सोते ही रहते हैं, गुणवानों से द्वेष करते हैं, वस्तुओं की खरीदी करते हैं और बेचते हैं, प्रवचन के बहाने वे विकथा करते हैं। छोटे बच्चों को वे चेला बनाने के लिए पैसे देकर खरीदते हैं। भोले लोगों को ठगते हैं, वे जिन प्रतिमा को बेचते हैं और खरीदते हैं। वे उच्चाटनादि क्रिया, वैद्यक और मन्त्रादि करते हैं, डोरे धागे भी करते हैं, शासन-प्रभावना के बहाने लड़ाई झगड़े करते हैं, सुविहित साधुओं के पास श्रावकों को जाने से रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, धन देकर अयोग्य शिष्यों को खरीदते हैं, कर्ज देते हैं और व्याज सहित वसूल करते हैं, अशास्त्रीय अनुष्ठान में प्रभावना होना बतलाते हैं, प्रवचन में जिनकी विधि या उल्लेख नहीं है—ऐसे तप की प्ररूपणा करके उसके उजमणे करवाते हैं, अपने लिए वस्त्र पात्र उपकरणों और द्रव्य, अपने गृहस्थों के यहां संग्रह करवाते हैं। व्याख्यान सुनाकर

गृहस्थों से धन लेने की इच्छा रखते हैं। ज्ञान-कोष की वृद्धि के लिए धन का संग्रह करते हैं–कराते हैं। इन सब में परस्पर भेद और विसंवाद है। ये आपस में नहीं मिलते हैं, सब अपनी अपनी प्रशंसा करके समाचारी का विरोध करते हैं। ये सभी नामधारी साधु, विशेष करके स्त्रियों को ही उपदेश देते हैं और स्वच्छन्द रूप से विचरते हैं। अपने भक्त के छोटे गुण को भी वे बहुत बड़ा (–राई सदृश गुण को पर्वत जितना बड़ा) करके दिखाते हैं और कई प्रकार के बहाने बनाकर अधिक उपकरण रखते हैं। लोगों के घर जाकर धर्मकथा कहते फिरते हैं। ये सभी 'अहमिन्द्र' अर्थात् सर्व सत्ता सम्पन्न हो गए हैं, किंतु गरज होने पर नम्र बन जाते हैं और गरज निकल जाने पर फिर ईर्षा करने लगते हैं। ये गृहस्थों का बहुमान करते हैं और गृहस्थों को संयम के सखा (मित्र) कहते हैं। चंदोवा और पूठिया (आसन के बैठने के स्थान के ऊपर व पीठ के पीछे बाँधने के जरी के वस्त्र) का संग्रह करते हैं। नाँद की आवक में भी वृद्धि करते रहते हैं।" आदि.

अन्त में श्री हरिभद्रसूरिजी लिखते हैं कि ये साधु नहीं, किंतु 'पेट भरों का झुंड है।' वे दुःख के साथ कहते हैं कि "इस शिर-शूल की शिकायत किस के पास करें।" इस प्रकार १७१ गाथाओं द्वारा उस समय के साधु नामधारी असाधुओं का वर्णन किया है। उन्होंने बताया कि "यह असंयती पूजा का दसवां आश्चर्य, दुर्भिक्ष दारिद्र्य और दुःख का कारण है"।

वास्तव में उस समय असाधुओं को साधु मानने रूप

मिथ्यात्व बहुत बढ़ गया था। वर्त्तमान में भी परिस्थिति लगभग वैसी दिखाई देती है। प्रचार के साधनों की बहुलता के कारण एक व्यक्ति का मिथ्या प्रचार भी राष्ट्र-व्यापी हो जाता है और धर्म-तत्त्व के अनजान लोगों को वेश का आकर्षण ले डूबता है।

८ साधु को असाधु मानना

जिनमें साधुता के गुण हों, उन्हें असाधु मानना भी मिथ्यात्व है। जो नाम, स्थापना, द्रव्य और वेश मात्र से ही साधु नहीं, किंतु द्रव्य और भाव से साधु हों, वे ही वास्तविक साधु होकर वंदनीय होते हैं। जिनके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी कषाय की तीन चौकड़ियें उदय में नहीं हों, जो सम्यग्दृष्टि पूर्वक सर्वविरति का सम्यग् रूप से पालन करते हों, पांच महाव्रत, रात्रि-भोजन त्याग और पांच समिति, तीन गुप्ति युक्त हों, दस विध समाचारी के पालक हों और जिनेश्वर भगवान् की आज्ञानुसार चलने वाले हों, वे ही खरे साधु हैं। ऐसे वास्तविक साधुओं को साधु नहीं मानना भी वैसा ही मिथ्यात्व है, जैसा गुणहीन अथवा असंयत, अविरत और असम्यग्दृष्टि को साधु मानना है।

चाहे जितना धुरन्धर विद्वान हो, चतुर हो, वाक्पटु हो, प्रभावशाली वक्ता हो, हजारों लाखों और करोड़ों पर अपना प्रभाव रखने वाला हो, उसका जीवन सादा ही नहीं, किंतु अनेक प्रकार के यम नियम और कठिन तप से युक्त हो, किंतु उसकी दृष्टि शुद्ध नहीं हो, उद्देश्य संसार-लक्षी हो और सम्यक्

प्रकार से विरत नहीं हो, तो वह निर्ग्रंथ साधुता से दूर ही है और उसकी सभी प्रकार की साधना संसार वर्द्धक ही होती है (सूय. १-८) किन्तु जिसकी दृष्टि यथार्थ हो, जिसका लक्ष संसार से पार होकर शाश्वत स्थान को प्राप्त करने का हो और जो सम्यग् प्रकार से विरत हो, तो उसका मंद प्रयत्न भी मोक्ष-साधक होता है और वह निर्ग्रंथ साधु है। उसे साधु मानना चाहिए।

संसार में साधना कई प्रकार की है, द्रव्य-धन साधना, क्षेत्र-देश, राष्ट्र अथवा राज्य साधना, काल साधना। (जो कार्य दीर्घकाल में होता हो, उसे स्वल्प समय में कर लेना अथवा समय की पाबन्दी रखना) काम भोग की साधना, विद्या साधना, मन्त्र साधना, बल साधना (व्यायामादि से) स्वर्ग साधना इत्यादि साधना करनेवाले साधक को, संसार भले ही साधु माने और साधु के नाम से पुकारे, किंतु निर्ग्रंथ संस्कृति इन साधकों को वास्तविक साधु नहीं मानती। उसकी दृष्टि में वही साधु है, जो लौकिक सभी साधनाओं का त्यागकर के परमार्थ साधना करता हो "**परमट्ठाणुगामियं**" (सूय. १-६-९) जो संसार के समस्त संबंधों को आश्रव का कारण मानता हो-'**सव्वेसंगा महासवा**" (सूय. १-३-२) जो संसार के सम्बन्ध-संयोगों को आश्रव का कारण जानकर परमार्थ की ओर गमन करता हो वही साधु है। ऐसे साधु को असाधु मानना और ईर्षा, अज्ञान और पक्षपात से उनकी निन्दा करना, मिथ्यात्व का ही परिणाम है।

यहां शंका हो सकती है कि 'साधु किसे मानना'?

समाधान—आत्मिक दृष्टि से तो वही साधु है, जिसके कषाय की तीन चौकड़ियों का उदय नहीं हो और जो आरम्भ परिग्रह की रुचि से विरत हो, वही वास्तविक साधु है। ऐसे साधु को असाधु मानना मिथ्यात्व है।

अन्यमत का साधु भी ?

शंका—साधुता का आपका बताया हुआ स्वरूप तो बहुत सुन्दर है। जिसकी कषायें इतनी क्षीण हो वही साधु हो सकता है, फिर वह किसी भी मत को मानने वाला हो। क्योंकि उपरोक्त व्याख्या से किसी मत का तो संबंध ही नहीं है?

समाधान—नहीं, यह स्वरूप जैनदर्शन का बताया हुआ है। जैन सिद्धांत, उसी में श्रावकपना या साधुता मानता है, जिसके अनन्तानुबन्धी कषाय उदय में नहीं हो। जिसके अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होगा, उसके प्रायः मिथ्यात्व-मोहनीय का भी उदय नहीं होगा। अनन्तानुबन्धी चौक और दर्शन मोहनीय त्रिक का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर ही वह श्रावक की कोटि में आ सकता है। मिथ्यात्व के सद्भाव में वह श्रावक भी नहीं माना जाता, तो साधु कैसे माना जा सकता है? जैन आगम स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जिस जीव को मिथ्यादर्शन संबंधी क्रिया लग रही है, उसे अप्रत्याख्यानी अर्थात् असंयम की क्रिया लगती ही है, सभी (२४) क्रियाएँ लगती है। अतएव जिसका मत विपरीत हो, जिसकी दृष्टि अशुद्ध हो, उसमें अनन्तानुबंधी

कषाय का उदय अवश्य है, फिर भले ही वह तीव्र न होकर मंद ही हो। वह जैन सिद्धांत के अनुसार साधु नहीं हो सकता।

शंका–नमस्कार मन्त्र के पाँचवें पद में लोक में रहे हुए समस्त साधुओं को नमस्कार करने की शिक्षा दी गई है। उसमें किसी एक मत या वेश का आग्रह नहीं है। फिर आप इस प्रकार का आग्रह क्यों रखते हैं ?

समाधान–किसी भी वस्तु या तत्त्व का स्वरूप, उसके कहनेवाले के आशय के अनुसार ही होना चाहिए. अपनी मर्जी के अनुसार नहीं। जब जैन धर्म, मिथ्यात्व के उदय वाले को गृहस्थ-उपासक भी नहीं मानता, तो साधु मानेगा ही कैसे ? सम्यक्त्व को विरति की मूल-भूमिका मानने वाला दर्शन, अंटसंट मान्यता वाले को कभी साधु नहीं मानेगा, यह स्पष्ट और सरल बात है। गणधरादि सूत्र-प्रणेताओं और अभयदेवादि व्याख्याकार आचार्यों का यही मत है। श्रीभगवतीसूत्र की टीका करते हुए, नमस्कार मन्त्र के पाँचवें पद "नमोलोए सव्व साहुणं" की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव सूरिजी ने लिखा है कि–

"सामायिकादि पांच चारित्र वाले, प्रमत्तादि नौ गुण-स्थान वाले, पुलाकादि निर्ग्रंथ, जिनकल्पिक, यथालंदकल्पिक, परिहारविशुद्ध-कल्पिक, स्थविरकल्पिक, स्थितकल्प, स्थितास्थित-कल्प तथा कल्पादि भेद युक्त, प्रत्येकबुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्धबोधित आदि भेद वाले भरतादि क्षेत्र-भेद वाले, सुषमादि कालभेद वाले, इत्यादि अरिहंतों के साधु ही "सव्वसाहु" पद से लिये जाते हैं, बुद्धादि के नहीं–"सार्वस्यवाऽर्हतो न तु बुद्धादेः"।

(पं० बेचरदासजी संपादित पृ० ५)

यह तो सहज ही समझ में आवे ऐसी बात है कि जो जैन-धर्म को आदरणीय माने ही नहीं, वह जैन का साधु कैसे हो सकता है ? हम अपनी कुतर्क से उसे बरबस जैन-धर्म सम्मत साधु माने, तो यह हमारी मूर्खता होगी।

गुणों की दृष्टि से देखा जाय तो भी यही बात है। विष-मिश्रित पात्र में रखी हुई उत्तम वस्तु भी विषैली होजाती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी विष युक्त आत्मा का चारित्र भी विषैला होता है। इसीसे तो भगवती आदि सूत्रों में बताया गया है कि दृष्टिविष वाली मिथ्यात्वी आत्माएँ, अपनी श्रमणोचित उग्र क्रियाओं के बल से ऊपर के ग्रैवेयक तक जा सकती है, उस फुग्गे की तरह जो हवा भरी हुई होने से आकाश में ऊँचा उड़ सकता है, फिर हवा निकल जाने पर उसका पतन होता है। क्रिया के बल से ग्रैवेयक के अहमेन्द्र होजाने पर भी क्रिया से प्राप्त बल खत्म हुआ कि पतन हो ही जाता है। वह मिथ्यात्व उसे कहां कहां भटकायगा-यह सिवाय सर्वज्ञ के कौन कह सकता है ? तात्पर्य यह कि जैन साधु वही है जो जिनेश्वरों की आज्ञानुसार वर्ते, जो जिनेश्वर को और उनके धर्म को नहीं मानता हुआ विपरीत मत रखता है, वह नमस्कार मन्त्र के पाँचवें पद में स्थान ही नहीं पा सकता।

वेश की उपयोगिता

शंका-आपका यह कथन ठीक है कि जैन-दर्शन उसी को साधु स्वीकार करेगा, जिसमें जैनधर्म सम्मत गुण हो, किंतु

साधुता में वेश का क्या महत्व है ?

समाधान—नहीं, वेश महत्वशाली वस्तु नहीं है। जो केवल वेश का ही काम देता हो, उसकी उपयोगिता परिचय (अन्य से भिन्नता बताने) तक ही सीमित रहती है। किंतु जैन मुनियों के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जो केवल परिचय का ही काम देती हो और संयम साधना में उसका कोई उपयोग नहीं हो। हम रजोहरणादि उपकरण को केवल वेश में ही शुमार नहीं कर सकते, क्योंकि ये धर्म-साधना के साधन हैं। रजोहरण से प्रमार्जन द्वारा प्रथम महाव्रत की रक्षा होती है और मुख-वस्त्रिका द्वारा भाषा-समिति का रक्षण होकर संयम-साधना होती है। इन्हें केवल वेश में ही गिन लेना भूल है। ये दो उपकरण तो जिनकल्पी मुनि भी रखते हैं। यदि इनका स्वीकार नहीं किया जाय, तो संयम का ठीक तरह से पालन होना असंभव हो जाता है। क्योंकि शरीरधारी के लिए खाना, पीना, चलना, फिरना, सोना, बैठनादि क्रियाएं तो अनिवार्य होती ही है। यदि रजोहरण द्वारा प्रमार्जन नहीं किया जायगा, तो अहिंसा का पूर्ण पालन कैसे होगा ? इसी प्रकार बिना मुखवस्त्रिका के भाषा के साथ निकली हुई वायु से, जीवों की होती हुई विराधना कैसे टलेगी ? अतएव कम से कम ये दो उपकरण तो सुसाधुओं के लिए आवश्यक है ही। इसके सिवाय बिना पात्र के आहार पानी का निर्दोष और यतना पूर्वक ग्रहण, तथा रुग्ण साधु की वैयावृत्य भी असंभव हो जाती है। इसलिए पात्र की भी आवश्यकता रहती है। इन चीजों को वेश में शुमार नहीं करना चाहिए।

वस्त्र मुख्यत: शीत, लज्जा तथा डाँस मच्छरादि से बचाव करने के निमित्त लिये जाते हैं। उपकरण कम से कम रखना, सुशोभित और बहुमूल्य के नहीं रखना, और अनावश्यक संग्रह नहीं करना, यह साधुता की भावना के अनुरूप है। सहनशीलता और परिणामों की धारा बढ़ने पर, इन वस्त्रादि उपकरणों का त्याग भी किया जा सकता है। (उत्तराध्ययन २९)

हां, तो निर्ग्रंथधर्म में मुखवस्त्रिकादि केवल वेश अथवा परिचय के लिए ही नहीं, किंतु विराधना से बचाने वाले-संयम पोषक साधन हैं और परिचय का काम तो देते ही हैं। अजैन परम्पराओं में कई उपकरण संयम सहायक नहीं होकर मात्र परिचायक होते हैं, वैसा निर्ग्रंथ परम्परा में नहीं।

अन्य आराधक क्यों नहीं ?

शंका-क्या अहिंसा और सत्य का पूर्ण रूप से पालन करते हुए, किसी भी वेश में रहने वाले और किसी भी प्रकार की आराधना करने वाले को आप साधु नहीं मानते ?

समाधान-जैन-धर्म सम्मत साधु वही हो सकता है जो जिनेश्वर की आज्ञा माने और समाचारी का पालन करे। जो जिनाज्ञा को आदरणीय नहीं मानता, वह जैन साधु हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह भी है कि अहिंसादि का पूर्ण रूप से चिरकाल तक पालन, न तो गृहस्थ कर सकते हैं और न अन्य क्रियाकांडों को करने वाले साधु ही कर सकते हैं। साधुता के आचार की पहली शर्त-सावद्य क्रिया का सर्वथा त्याग होता है'

ृथ्वी आदि छःकाय के आरंभ का तीन करण तीन योग से परि-
ार, सब से पहले होता है। जो इस प्रकार की वृत्ति नहीं
अपना सकता, वह जिनेश्वरों की आज्ञा को आदरणीय मानते
ुए भी जैन-साधु नहीं हो सकता। इस प्रकार की वृत्ति गृहस्थों
ौर अजैन साधुओं में नहीं हो सकती। गृहस्थों को गृहस्थवास
ें रहते हुए स्थावर जीवों के आरम्भ से सर्वथा बचना असंभव
। और अजैन साधुओं के क्रिया-काण्डों में भी स्थावर और छोटे
छोटे त्रस जीवों की हिंसा का बचाव नहीं होता। ईर्यादि पाँचों
समितियों का पालन आदि भी निर्ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य लोगों
से नहीं हो सकता। क्योंकि गृहस्थों का तो जीवन ही प्रायः
आरम्भमय और सावद्य है, तथा अन्य संस्कृति में सावद्य-निरवद्य
तथा आरम्भ-अनारंभ का विचार ही नहीं है, इसलिए उन्हें
पूर्ण अहिंसक आदि नहीं कह सकते।

शंका—उपरोक्त विचार प्रामाणिक भी है या आपका
अपना मत है ?

समाधान—लीजिये प्रमाण। स्वयं निर्ग्रंथनाथ भगवान्
महावीर ने अपने प्रवचन में कहा है कि—"आणाए मामगं
धम्मं"—मेरा धर्म, आज्ञानुसार पालन करने में है (आचारांग
१-६-२) गुरुदेव अपने शिष्य से कहते हैं कि—"अणाणाए एगे
सोवट्ठाणे, अणाए एगे णिरुवट्ठाणे, एतं ते मा होउ एयं
कुसलस्स दंसणं" अर्थात्—हे शिष्य! जिनाज्ञा के बाहर की क्रिया
में तुम्हारा उद्यम और जिनाज्ञा के पालन में आलस्य, ये दोनों नहीं
होना चाहिए, क्योंकि यह सर्वज्ञ भगवान् का दर्शन है (आचा-

रांग १-५-६) इसके अतिरिक्त "**रोइअ णायपुत्तवयणे....** (दशवै. १०-५) आदि कई आगमिक प्रमाण हैं। आचारांग १-८-१ में स्पष्ट लिखा है कि "**सव्वत्थ समयं पावं**" अर्थात् सभी पर-समयों में पाप रहा हुआ है। पुरातन आचार्यों में श्री संघदास गणि, बृहत्कल्प भाष्य गा० ६२४ तथा २४८८ में लिखते हैं "**आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु**" अर्थात् आज्ञा से ही चारित्र की व्यवस्था है, आज्ञा भंग से क्या भंग नहीं होता? सभी भंग हो जाता है। चारित्र की अपेक्षा से व्यवहार उ. १० भाष्य गा० ३८९ में लिखा कि "षट्काय का संयम हो, वहीं तक संयती माना जाता है," इत्यादि अनेक प्रमाण है। और यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जिस प्रकार जैन-धर्म ने अहिंसा का विकास किया और निर्ग्रंथों ने जितना अहिंसा का पालन किया, वैसा अन्य किसी ने नहीं किया, न ऐसी व्यवस्था ही किसी अन्य संस्कृति में है। जिनाज्ञा से कम, अधिक या विपरीत प्ररूपणा प्रचारादि करना मिथ्यात्व है। इसी प्रकार लौकिक लोकोत्तर मिथ्यात्व आदि से बचना भी निर्ग्रंथ श्रमणों के सिवाय दूसरों से नहीं होता। अतएव जैन-धर्म सम्मत साधुता अन्यत्र नहीं है, यह प्रकट सत्य है।

अहिंसा के अतिरिक्त असत्य-त्यागादि पांचों महाव्रतों के पालक और रात्रि-भोजन के त्यागी, ईर्यासमिति पूर्वक पैदल चलने वाले, निरवद्य एवं परिमित वचन बोलने वाले, जिनकी आवश्यक वस्तु को प्राप्त करने की रीति, आगमिक नियमों के अनुसार निर्दोष हो, जो वस्तु को उठाने, रखने और मलादि

त्यागने में विवेकशील होकर निर्ग्रंथ मर्यादा का पालन करते हों, जिनका समय स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमणादि आत्मोत्थानकारी कार्यों में लगता हो, जो संसारियों के विशेष सम्पर्क से दूर रहकर अपनी साधना में रत रहते हों और अवसर प्राप्त होने पर भव्य जीवों को मुक्ति-मार्ग का उपदेश देते हों, वे ही सच्चे साधु हैं। ऐसे साधु को असाधु मानने वाले सचमुच मिथ्यादृष्टि हैं।

जो सच्चे साधु का डौल करते हुए भी अपने मुक्ति के ध्येय से विमुख हो जाते हैं और विविध प्रकार के सांसारिक उद्देश्यों की ओर झुक जाते हैं, जिनके सोचने के विषय सांसारिक हैं, जिनके लिखने बोलने के विषय लौकिक हैं, जो संसार के सावद्य कार्यों में योग देते हैं, जिनके भाषण निर्ग्रंथ-प्रवचन की मर्यादा के बाहर जारहे हैं, वे निर्ग्रंथ अणगार नहीं हैं, वे कोई और ही हैं। वास्तव में वे नाम और वेश से ही साधु हैं, भाव से तो वे असाधु हो चुके हैं। संसारी लोगों अथवा जैनेतर साधुओं जैसी उनकी परिणति हो चुकी है। भगवान् महावीर के निर्ग्रंथ साधु, न तो आरम्भजनक सावद्य वचन बोलते हैं, न वैसा लिखते हैं, न गृहस्थों के और अन्यतीर्थियों के सभा-सम्मेलन बुलाते हैं। वे संसारियों में चलते हुए विवादों, संघर्षों और आन्दोलनों में नहीं उलझते। वे इन सब प्रपञ्चों से दूर रहकर जिनोपदिष्ट मोक्ष मार्ग पर ही चलते रहते हैं।

साधु और जनसेवा

शंका—जन-सेवा के लिए तो जन सम्पर्क आवश्यक है ही और जनता के कष्टों को मिटाना ही सच्ची जन-सेवा है।

जन-सेवा के लिए ही जो साधु बनते हैं, वे जनता से और जन-आन्दोलन से दूर कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—यह मानना ही गलत है कि निर्ग्रंथों की दीक्षा, जन-सेवा के उद्देश्य से होती है। जो जन-सेवा के उद्देश्य से दीक्षा लेने का कहते हैं, वे खुद अपना अज्ञान जाहिर करते हैं। प्रथम तो दीक्षा का उद्देश्य ही मोक्ष प्राप्ति का है, जन-सेवा का नहीं। दूसरा—साधु, जन-सेवक नहीं, किंतु जन-सेव्य—पूज्य होता है। तीसरा—निर्ग्रंथचर्या के साथ जन-सेवा का कार्य संगत भी नहीं होता।

निर्ग्रंथ प्रवचन क्या है ? इसके सम्बन्ध में आगमकार स्वयं कहते हैं—"**सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं**" अर्थात्—जिनधर्म, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, निर्याण मार्ग है, निर्वाण मार्ग है, सन्धि रहित परिपूर्ण एवं समस्त दुःखों को नष्ट करनेवाला मार्ग है। श्री आचारांग २—६ में बताया है कि 'जो परमार्थ दर्शी हैं, वे मोक्ष मार्ग को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाते—"**जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे**"। उववाई सूत्र में निर्ग्रंथों के निष्क्रमण का ध्येय वताते हुए लिखा कि—"**कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिया**" (—कर्मों को नष्ट करने के लिए ही साधुता है) आदि, दशवैकालिक ५—१ की निम्न गाथा में स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि—

"अहो ! जिणेहिं असावज्जा, वित्ति साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा" ॥ ९२ ॥

इस प्रकार निर्ग्रंथों की प्रव्रज्या का ध्येय मोक्ष साधना है, जन-सेवा नहीं है। आचारांग १-४-१ में लिखा कि-"**णो लोगस्सेसणं चरे,**" इस वाक्य से यह शिक्षा दी गई कि लोगों का (जनता का) अनुसरण नहीं करे। दशवैकालिक ३ में गृहस्थों की सेवा करना, साधु के लिए अनाचरणीय बताया है और निशीथसूत्र में, गृहस्थों की सेवा का साधु के लिए प्रायश्चित्त विधान किया गया है। यदि आप पूर्वकाल के श्रमणों की चर्या का वर्णन पढ़ें और विचार करें, तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे जन-सम्पर्क से दूर ही रहते थे। वे सांसारिक संयोग से मुक्त रहने वाले थे। यदि श्रमणों का ध्येय जन-सेवा का होता, तो उन्हें संसार त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहती, न जंगलों में रहने की जरूरत थी और न रजोहरणादि उपकरण रखने की ही आवश्यकता रहती, अपितु जन-सेवक की भांति वे भी कुर्त्ता टोपी आदि पहनकर सफाई आदि और निर्माण, रोजी प्रबन्धादि करते रहते। रोगियों की सेवा और सांसारिक भाषा, कलादि सिखाते रहते, किंतु निर्ग्रंथ-चर्या में आज भी यह नहीं है और पहले भी ऐसा कुछ भी नहीं था। इससे भी यह सिद्ध है कि जैन साधु जन-सेवक नहीं हैं। उनका उद्देश्य लोक-सेवा का कभी भी नहीं रहा। वे जनता के सेव्य हैं, "**नमो लोए सव्वसाहूणं, साहु मंगलं, साहूलोगुत्तमा, साहूसरणं पव-ज्जामि,** इत्यादि आगमिक वाक्यों को जानने वाला, साधु को जनसेवक कहने का साहस नहीं कर सकता।

इस प्रकार जो साधु "**णिग्गंथं पावयणं पुरओकाओ**

विहरई" (उववाई) निर्ग्रंथ-प्रवचन को आगे करके (निर्ग्रंथ-प्रवचन के अनुसार प्रवर्तन करते हुए) विचरते हैं, वे खरे साधु हैं। ऐसे उत्तम साधुओं को असाधु मानना मिथ्यात्व है।

९ असुक्त को मुक्त मानना

जो राग-द्वेष में रंगे हुए हैं, जिन्होंने संसार के बन्धनों को समझा ही नहीं, जो जीव अजीव को जानते नहीं, जिन्हें बन्धन और मुक्ति का ज्ञान नहीं, उन कर्म-बन्धनों में जकड़े हुए और संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को मुक्त मानना मिथ्यात्व है। जिनका मिथ्यात्व भी नहीं छूटा, जिनकी अज्ञान से भी मुक्ति नहीं हुई, जो प्रेमियों—भक्तों के प्रति स्नेह रखकर उनको मुक्त करने की प्रतिज्ञा करते हैं, जो दुष्टों का संहार और सज्जनों की रक्षा करने का अशक्य एवं अनहोना विश्वास दिलाते हैं, वे अपने खुद के मिथ्यात्व से भी मुक्त नहीं हुए, तो दूसरों को किस प्रकार मुक्त कर सकते हैं। जिस प्रकार बन्दीगृह में पड़ा हुआ, प्रथम-श्रेणी का बन्दी, तृतीय-श्रेणी के बन्दी को कहे कि—'तू मुझ पर विश्वास कर, मैं तेरे बन्धन काट कर तुझे स्वतन्त्र करा दूँगा,' तो ऐसे व्यक्ति के वचन पर कौन विश्वास करेगा? समझदार तो यही कहेगा कि—"पहले आप स्वयं तो मुक्त हो जाइए, फिर मेरी चिंता कीजियेगा। अभी आपके छूटने का तो ठिकाना ही नहीं, खुद बन्दी बनें हुए हैं और मुझे छुड़ाने की प्रतिज्ञा करते हैं। आपकी इस प्रतिज्ञा पर कौन विश्वास करेगा?"

कोई रमणियों के रंग में रंगे हुए हैं। ललनाओं के साथ भोग-विलास, गान और नृत्य करते हुए अपने उत्कृष्ट भोगीपन का परिचय दे रहे हैं। कोई अनीतिपूर्वक परस्त्रियों के साथ अभिसार करते हैं, उनके साथ अनैतिक आचरण करते हैं, हजारों रानियाँ होते हुए भी नई-नवेलियों के लिये युद्ध करते हैं या हरण करके ले जाते हैं, वे मोह के महा-पाश से तो मुक्त हुए ही नहीं, फिर कर्मों के वज्र-बन्धनों से कैसे मुक्त हो सकते हैं?

कई योगी, अवधूत और ऋषि कहलाते हैं, फिर भी अर्धांगना का साथ तो लगा ही हुआ है। रमणी के बिना वे रह ही नहीं सकते और योगी अवस्था में ही जिनके सन्तान होती है, जिनके अर्धांगना होते हुए भी परस्त्री पर रीझ जाते हैं, जिनकी लंगोट की सचाई का भी विश्वास नहीं, उन्हें मुक्त, अमर एवं मृत्युंजय कैसे माना जा सकता है ?

जिसके राग नहीं होता, वह न तो स्त्रियों से सम्बन्ध रखता है और न भोग-विलास में डूबा रहता है। काम-भोग में आसक्त व्यक्ति, वीतराग हो ही नहीं सकता। फिर जो मादक वस्तुओं का प्रेमी होकर मदोन्मत्त बनता है, उसे राग-मुक्त कैसे कहा जाय ? और जो राक्षसों, अनार्यों एवं असुरों का संहार करने के लिये विकराल बनकर प्रलय मचा देते हैं जिनके पास संहारक अस्त्रादि बने रहते हैं, क्या वे भी द्वेष-मुक्त हो सकते हैं?

कोई मुक्त माना जाने वाला, हाथ में माला रखकर जाप करता हुआ दिखाई देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि

वह अपने से उच्च एवं श्रेष्ठ किसी महाशक्ति की आराधना कर रहा है, और वह विस्मरणशील भी है, तभी जाप की संख्या का हिसाब रखने के लिए माला का उपयोग करता है। ऐसे साधक और भुलक्कड़ को सर्वेश्वर एवं मुक्त मानना, किस प्रकार उचित है ?

किसी महाज्ञानी और मुक्त कहलाने वाले को शिष्य ने पूछा कि 'भगवन् ! यह लोक कैसा है ? जीव का स्वरूप कैसा है ? पुनर्जन्म है भी या नहीं, इत्यादि प्रश्नों का समाधान नहीं करके 'अव्याकृत' कहकर टाल दिया। जब वे खुद भी नहीं जान पाये, तो समाधान क्या करेंगे और 'मैं नहीं जानता,' यह भी कैसे कहेंगे ? यह भी पूछा गया कि 'इस देह को छोड़ने के बाद आप क्या होंगे ?" तो इसका उत्तर भी वही 'अव्याकृत'। इससे मालूम होता है कि उनपर भी अज्ञान का आवरण छाया हुआ था। अहिंसा का उपदेश देते हुए भी उनके व उनके संघ के लिए पशु-हत्या कर भोजन करवाने वालों का न्योता मान लिया जाता था और वे मांस भक्षण करते थे।

जो मुक्त होने का मार्ग ही नहीं जानते हों, जिनके जीवन चरित्र और सिद्धांत से राग, द्वेष, अज्ञान, अविरति, प्रमाद और कषाय स्पष्ट रूप से झलकते हों, ऐसे असम्यक् संसार-समापन्नक जीवों को मुक्त मानना कहां की समझदारी है ?

मुक्त होने में सब से पहले स्व और पर का ज्ञान होना अनिवार्य है। स्व-पर के भेद-ज्ञान के बाद, पर से छूटने का उपाय जानना भी अनिवार्य है। सामान्यतया

इतना ज्ञान होने के बाद ही मुक्त होने का उचित प्रयत्न प्रारंभ होता है। जो इस प्रारंभिक ज्ञान से ही वंचित हों, उन्हें मुक्त मानना तो अपनी मिथ्या परिणति ही प्रकट करना है।

मुक्त जीवों का स्वरूप कैसा है, क्या उनके शरीर, इन्द्रियाँ और मन होता है, खान-पानादि क्रियाएँ होती है, वे वहां क्या करते हैं, इत्यादि बातों को यथार्थरूप से नहीं जानने वाले, उस अनजान मुसाफिर जैसे होते हैं, जो चलता तो है, किंतु उसे अपने गंतव्य स्थान का पता ही नहीं है। इस प्रकार के जीव, घानी के बैल की तरह संसार-चक्र में ही पड़े रहते हैं। उन्हें मुक्त मानना गंभीर भूल है।

सत्य यह है कि जो मुक्त हो चुके हैं, वे संसार के सभी कारणों को नष्ट करने के बाद मुक्त हुए हैं। मुक्तात्माओं के शरीर, वाणी, मन और इन सब का कारण—कार्मण-शरीर होता ही नहीं। इस कारण के अभाव में उनका जन्म ही नहीं होता, फिर मृत्यु की तो बात ही क्या? किंतु संसार से मुक्त कहे जाने वाले आराध्यों के विषय में जब हम सोचते हैं, तो बात ही उलटी दिखाई देती है। अवतारवाद की मान्यता ही यह बतलाती है, कि जिन्हें मुक्त माना जा रहा है, वे वास्तव में अमुक्त (बंदी) ही हैं। मुक्त जीव, मुक्ति से वापिस लौटता नहीं और जो लौटता है, वह मुक्त हुआ ही नहीं।

जैन-धर्म ने मुक्त अमुक्त का स्वरूप वास्तविक रूप से प्रकट किया है। जैन-धर्म का सिद्धांत है कि मुक्त सिद्धात्मा, किसी का हिताहित नहीं करते। उन्हें न तो अपने उपासकों—

धर्मात्माओं और सुसाधुओं पर प्रेम है और न पापात्माओं, नास्तिकों और धर्म-घातकों पर द्वेष है। वे अपने निजानन्द में रहे हुए हैं। उन्हें संसार में अवतरण करने (पतित होने) की कोई आवश्यकता नहीं। संसार के सुख-दुःख अथवा धर्म-अधर्म से उनका कोई सरोकार नहीं। वे राग, द्वेष. काया, कर्म, जन्म और मरण तथा उद्वर्त्तन और अपवर्त्तन—अवतरण से सर्वथा रहित हैं। इस प्रकार मानना सम्यक्त्व है और इसके विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व है।

जिन्हें मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व स्वीकार करना है, अथवा सम्कक्त्वी रहना है, उन्हें रागी, द्वेषी, अज्ञानी और आठ कर्मों के बन्धनों में बंधे हुए अमुक्त जीवों को मुक्त नहीं मानना होगा, उन्हें मुक्त के समान नहीं बतलाना होगा। जो ऐसे अमुक्त, अजैन आराध्यों को मुक्तेश्वर (जिनेश्वर) के समकक्ष मानते हैं और प्रचार करते हैं, वे स्वयं मिथ्यात्व को अपनाते हैं और मिथ्यात्व का प्रचार करके उपासकों को भी मिथ्यात्वी बनाने का प्रयत्न करते हैं। सम्यग्दृष्टियों एवं सम्यग्ज्ञानी उपदेशकों का कर्त्तव्य है कि उपासकों की बिगाड़ी जाती हुई श्रद्धान को सुरक्षित रखने का यथाशक्य प्रयत्न करते रहें।

१० मुक्त को अमुक्त मानना

जो कर्म-वन्धनों और पर की संगति से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, संसार का संयोगजन्य कोई भी सम्वन्ध जिनके शेष नहीं रहा, उन सिद्ध भगवन्तों को अमुक्त (वन्दी) मानना भी

थ्यात्व है। कई मतावलम्बी, मुक्तात्मा (सिद्ध भगवान्) को
च्छा, कामना, अर्थात् राग, द्वेष युक्त मानते हैं। उनका अव-
ार लेना लिखते हैं, वे वास्तव में अनभिज्ञ हैं। जो मुक्त है,
ह बन्दी नहीं हो सकता और जो बन्दी है, वह मुक्त नहीं है।
जसे पुनः अवतरित होना माना जाता है, वे मुक्त नहीं हैं, या
ो वे काल्पनिक ईश्वर हैं, या फिर अमुक्त हैं। क्योंकि मुक्तात्मा
ं पुनः अवतरण का कोई भी कारण शेष नहीं रहता। जन्म-
रण के कारणों का आत्यन्तिक नाश कर देने से ही वे मुक्त
ए हैं। जन्म वही लेता है, जो आठों कर्म में बन्धा हुआ हो।

ईश्वर कर्तृत्ववादियों के संसर्ग दोष से, बहुत-से जैनी
ी शुभाशुभ फल का कारण, ईश्वर को मान कर कहा करते
ं कि–'यह जो कुछ दुःखद घटना घटी, इसमें मनुष्य का क्या
ोष है, प्रभु की जो इच्छा होती है वही होता है।" कोई
ार जाय तो–"भगवान् ने उसे उठा लिया," "भगवान् मृतात्मा
ो शांति दें," इस प्रकार अनेक तरह से सर्व-मुक्त परमात्मा
को, अमुक्त संसारी जीव के समान बतलाने की भूल करते हैं।
कुछ वर्ष पूर्व, जैन संस्था के एक जैन अध्यापक का, सम्यग्दर्शन
में प्रकाशनार्थ एक लेख आया था। भगवान् महावीर की जयंती
के विषय में उन्होंने लिखा था। उनके लेख में भगवान् से
प्रार्थना की गई थी कि–

"देश में अन्न का भयंकर दुष्काल है। अतिवृष्टि और
अनावृष्टि ने फसलों को नष्ट कर दिया है। गरीबों की हालत
बड़ी दयनीय हो रही है, इसलिए हे वीर! यदि सचमुच आप

भगवान् हैं, दयालु हैं, दीन-बन्धु हैं, जगदीश्वर एवं षट्काय के 'पीहर' हैं, तो शीघ्र आइये, अवश्य आइये और इस भयंकर समय में भारत की रक्षा कीजिए। इससे एक पंथ और दो काज होंगे, अर्थात् जीवों की रक्षा भी होगी और जैन-धर्म की प्रभावना भी होगी। जनता जैन-धर्म का प्रभाव देखकर इसकी शरण में आ जाएगी," इत्यादि।

मैंने इस लेख को स्थान नहीं दिया और इससे लेखक अप्रसन्न भी हुए, किंतु उपरोक्त अंश पर से यह स्पष्ट हो रहा है कि 'जैन संस्थाओं में पढ़कर उत्तीर्ण हुए—डिगरी प्राप्त अध्यापक भी जब मुक्त को अमुक्त मान रहे हैं, तब दूसरों की तो बात ही क्या है? एक अजैन पद्य में यह प्रार्थना की गई कि-

"आज सभा में दर्शन दो, मेरे राम कृष्ण भगवान्"

इसका अनुसरण करते हुए एक जैन की ओर से भी यह पद्य बनाकर सभा में सुनाया गया कि—

"आज सभा में दर्शन दो, मेरे महावीर भगवान्।"

जब हम मध्यकाल के जैनाचार्यों की रचनाओं को देखते हैं, तो ऐसे मन्तव्य पर उतना आश्चर्य नहीं होता। अजैनों के प्रभाव से, मध्यकाल के कुछ जैनाचार्य भी अछूते नहीं रहे। उन्होंने प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर, मुक्त जिनेश्वरों और सिद्ध भगवंतों को मन्त्रोच्चार करके आह्वान किया है और यह क्रिया अब भी यथावसर होती है। मोक्ष प्राप्त जिनेश्वरों और सिद्ध भगवंतों को, 'सादि अपर्यवसित' एवं 'मपुणरावित्ति' मानने वाले, उनको पुनः संसार में बुलावें, तो अपनी ऐसी प्रवृत्ति

से वे यह बतला रहे हैं कि मुक्तात्माओं का भी चवन=पतन (अवतरण) होता है, अर्थात् वे अमुक्त हैं। इस प्रकार मुक्त को अमुक्त मानना मिथ्यात्व है।

मुक्त वही है, जिनके अज्ञान, मोह, वेदना, शरीर और संसार के सभी सम्बन्ध छूट चुके हों। जिनमें किसी भी प्रकार की इच्छा, आशा, तृष्णा या राग द्वेष का अंश-मात्र भी नहीं रहा हो। संसार की सम विषम अवस्थाओं का प्रभाव जिनकी आत्म परिणति में, किसी प्रकार की चलमलता नहीं ला सकते हों और जो मुक्त होने के समय से असीम अनन्तकाल समरस में लीन, अचल एवं निष्कम्प दशा में रहते हों।

जैन-सिद्धांत (प्रज्ञापना) में सिद्धों को मुक्त—असंसारी (असंसारसमापन्नक) माना है। सिद्धों के अतिरिक्त सभी जीवों को अमुक्त—संसारी माना है। यह आत्यंतिक मुक्ति की अपेक्षा से है। इसमें अंतिम गुणस्थान स्थित अयोगी-केवली भगवान् को भी संसारी माना है, क्योंकि अभी अचल एवं शाश्वत स्थान प्राप्त करना शेष है। जब वे लोकाग्र पर स्थित हो जाते हैं, तब उन्हें मुक्त मानते हैं। किंतु क्रमिक आत्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से संसार में रहकर मुक्ति-साधना करने वाले सर्व-साधकों को भी देश-मुक्त स्वीकार किया है। आचारांग २—१६ निर्युक्ति गाथा ३४२ में लिखा कि—

"देसविमुक्का साहू, सव्वविमुक्का भवे सिद्धा"।

अर्थात्—छठे गुणस्थान से लगाकर केवली पर्यंत देश-मुक्त हैं और सिद्ध सर्व-मुक्त हैं। यों तो मिथ्यात्व मुक्ति से ही आंशिक

मुक्ति प्रारंभ हो जाती है, किंतु संसार त्याग के बिना मुक्ति-मार्ग की क्रियात्मक सर्व आराधना, यथार्थरूप में नहीं होती। इसलिए साधु से लगाकर केवली तक को देश-मुक्त माना है। जो मिथ्यात्व से मुक्त हैं, उन्हें मिथ्यात्वी मानना, जो अविरति से मुक्त हैं, उन्हें अविरत-असाधु मानना, जो प्रमाद, कषाय और योग मुक्त हैं, उन्हें अमुक्त मानना मिथ्यात्व है और सिद्ध-परमात्मा को संसारी मानना भी मिथ्यात्व है। इस प्रकार सभी तरह से मुक्त, सिद्ध भगवान् को अमुक्त मानने वाले मिथ्यात्वी हैं। समझ में नहीं आता कि इस प्रकार आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक, आधि व्याधि और उपाधि से सर्वथा मुक्त, सिद्ध-परमात्मा को मुक्त नहीं मानेंगे, तो क्या उन्हें मुक्त मानेंगे --जो जन्म-मरण और राग-द्वेष के चक्कर में पड़े हैं? जो भक्त के वश में होकर अपने आराम और सुख को छोड़कर भागते फिरते हैं?

जो जैन लोग, मुक्तात्माओं से अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति करने की प्रार्थना करते हैं, वे भी भूल करते हैं। उन्हें यह तो सोचना चाहिये कि क्या वीतराग-परमात्मा आपकी सराग प्रार्थना की पूर्ति करेंगे? यदि वे सराग कामना की पूर्ति करें, तो खुद वीतराग क्यों हुए? सशरीर अरिहंत भगवान् स्वयं राग द्वेष और संसार को त्यागने का उपदेश करते हैं, तो क्या आपको राग-द्वेष में फँसाने में सहायक होंगे? जब शरीरधारी अरिहंत भगवान् ही ऐसा नहीं करते, अरे मर्यादा-पालक साधु भी संसारियों की स्वार्थपूर्ति में सहायक नहीं होते, तो

क्या मुक्त-परमात्मा उनकी स्वार्थपूर्ति करेंगे ? वास्तव में असम्यग्दृष्टियों की संगति का प्रभाव हमारी विचारधारा पर भी पड़ा है। हमें ऐसे विचारों को त्याग कर, इस मिथ्यात्व से बचना चाहिये।

११ आभिग्रहिक मिथ्यात्व

तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही, अपने पकड़े हुए रूढ़ पक्ष से दृढ़तापूर्वक चिपके रहना और सत्य का विरोध करना—'आभिग्रहिक-मिथ्यात्व' है। अज्ञान के साथ आग्रह का योग हो, तब यह मिथ्यात्व होता है। अनसमझ और अज्ञानी अजैन लोगों में ही यह मिथ्यात्व होता है—ऐसी बात नहीं है। कुछ जैन लोगों में भी रुढ़िवश इस प्रकार का मिथ्यात्व चलता रहता है। जैसे कि कुल परम्परानुसार कई जैन कहाने वाले लोग, होलिका का पूजन करके दहन करते हैं। चेचक, मोतीझरा आदि रोगों को देव-स्वरूप मानते हैं। श्राद्धपक्ष में पितरों का श्राद्ध करते हैं, यौवनवय प्राप्त होने के पूर्व ही बालवय में कन्या का विवाह करते हैं और कन्यादान को धर्म मानते हैं। मालव आदि देशों में विवाह का प्रारंभ, कुंभकार के चाक (चक्र) पूजन से करते हैं और उकरड़ी पूजनादि हास्यास्पद रिवाजों को भक्ति पूर्वक अदा करते हैं। यह सब अजैन परम्परा का प्रभाव है।

विवाह के अवसर पर गणपति स्थापना करना और सारी क्रियाएँ उनके सामने करना तथा भेरू भवानी आदि का पूजन करना, ये सब क्रियाएँ अन्धपरम्परानुसार है। इसी प्रकार लक्ष्मी पूजनादि भी। हम यह नहीं सोचते कि इस प्रकार की मिथ्या

क्रिया नहीं करने वालों के भी विवाहादि कार्य सुखपूर्वक सम्पन्न होते हैं, बिमारियों को देवस्वरूप नहीं मानने वाले लोगों को भी ये रोग होते हैं और उनका निवारण हो जाता है, तथ लक्ष्मी पूजादि नहीं करने वालों के यहां भी भरपूर सम्पत्ति होती है। हिन्द बाहर के अमेरिका आदि देश, बिना लक्ष्मी पूजन के भी समृद्ध एवं शक्तिशाली बने हुए हैं। फिर हम क्यं इन व्यर्थ के क्रिया-काण्डों में उलझकर अपनी मूढ़ता एवं अज्ञानत का प्रदर्शन करें ?

मरणोत्तर क्रिया में मृतक को धूप आदि देना, आदि कई अज्ञानपूर्ण क्रियाएँ प्रचलित हैं, जिनसे न तो कुछ भौतिव लाभ है और न आत्मिक लाभ ही है। उल्टा मिथ्यात्व क पोषण होकर आत्मा को कर्म-बन्धनों में जकड़ना है। इस प्रका की क्रियाओं के विपरीत यदि कुछ कहा जाय, तो इसके बचा में परम्परा की ओट तथा अन्धविश्वास की बातें ही साम आती है।

जैनी कहे जाने वालों में ऐसी अन्धपरम्परा (जो केव मिथ्यात्व पर ही खड़ी है) चलते रहना, सचमुच आश्चर्य क वात है। कुछ लोगों में तो इतना आग्रह होता है कि वे इ विषयों में, त्यागी संतों के उपदेश को भी नहीं मानते हुए यह कहते हैं कि "महाराज ! ये क्रियाएँ हमारे बापदादा और पूर्वज परम्परा से करते आये हैं, इसलिए हम भी करते हैं। वे मू नहीं थे, हमसे अधिक समझदार थे," आदि।

इसी प्रकार कई लोग ऐसे भी होते हैं कि कारणव

जिनकी धारणा तत्त्व-ज्ञान के विपरीत (आगम के प्रतिकूल) होते हुए भी निर्णय करना नहीं चाहते, किंतु अपने पकड़े हुए गर्दभ-पुच्छ से ही लगे रहते हैं।

यों तो अज्ञान भी मिथ्यात्व है, क्योंकि विपरीत ज्ञान जहाँ होता है, वहां मिथ्यात्व होता है। किंतु अज्ञान के साथ आग्रह होने पर वह आभिग्रहिक मिथ्यात्व हो जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि ज्ञानावरणीय के उदय से सम्यग्दृष्टि को भी किसी एक विषय में गलत धारणा हो जाती है, किंतु वह होती है जैन-तत्त्वज्ञान के रूप में। उसका विश्वास होता है कि "जिनेश्वरों ने ऐसा ही कहा है"। ऐसे भ्रम-मात्र से वह मिथ्यादृष्टि नहीं बन जाता। क्योंकि उस मान्यता के साथ उसका आग्रह नहीं होता और जब सद्गुरु का योग मिले और वे समझावें, तो वह अपनी गलत धारणा छोड़कर सत्य को अपना लेता है। 'मेरा सो सच्चा'—ऐसा हठाग्रह उसका नहीं रहता, किंतु 'सच्चा सो मेरा'—इस प्रकार वह सत्य-तत्त्व का ग्राहक रहता है। इस प्रकार की भूल-भुलय्या के कारण जिनेश्वरों पर श्रद्धा रखते हुए, किसी विषय में गलत धारणा होने पर भी वह मिथ्यादृष्टि नहीं माना जाता। आचारांग सूत्र १-५-५ में कहा है कि—

"समियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होति उवेहाए। असमियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होति उवेहाए"।

अर्थात्—जिसकी श्रद्धा शुद्ध है, जो मानता है कि "जिने-

श्वरों के वचन सत्य ही है," उसे सम्यक् अथवा असम्यक् वस्तु भी, सम्यग्रूप में ही परिणत होती है। किंतु जिसकी श्रद्धा ही अशुद्ध है, जिसकी विचारणा ही असम्यग् है, अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि है, उसको तो सम्यक् और असम्यक्–दोनों प्रकार की वस्तु, असम्यक्–मिथ्यारूप ही परिणमती है।

तात्पर्य यह कि सम्यग्ज्ञान के सद्भाव में कदाचित् गलत धारणा भी हो जाय, तो वह मिथ्यादृष्टि नहीं कहा जाता, परंतु यदि वह समझाने पर भी नहीं माने और आगम प्रमाण उपस्थित होने पर भी अपना हठ नहीं छोड़ कर, खोटे पक्ष को पकड़े रहे, तो वह मिथ्यात्वी हो जाता है और 'अभिनिवेश मिथ्यात्व' में उसकी गणना होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि को चाहिए कि वह श्रुतज्ञानी के द्वारा, आगमानुसार समझाने पर अपनी पूर्व की भूल सुधार कर विशुद्धि कर ले और आभिग्रहिक मिथ्यात्व से वंचित रहे।

१२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

गुण-दोष की परीक्षा नहीं करते हुए सभी पक्षों को समान रूप से मानना।

दो प्रकार की भिन्न वस्तुओं में भी गुणों की तरतमता होती है, दोनों समान नहीं हो सकती, तब अनेक मतों में समानता कैसे हो सकती है? यह साधारणसी बात भी नहीं समझ कर जो सभी मतों को समान बतलाते हैं, वे अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी हैं।

परीक्षा करके स्वीकार करने की बुद्धि, न तो आभिग्रहिक-मिथ्यात्वी में होती है और न अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्वी में। इस दृष्टि से दोनों समान होते हुए भी दोनों में एक खास भेद रहा हुआ है। पहला किसी एक मिथ्यापक्ष का समर्थक बन कर अन्य का खंडन करता है, तब दूसरा किसी का विरोध नहीं करके सब को समान रखता है। दोनों में यही खास भेद है।

बहुत-से लोग ऐसे होते हैं कि जिनमें किसी एक पक्ष का आग्रह तो नहीं होता, किंतु वे गुण-दोष के परीक्षक भी नहीं होते। धर्म और अधर्म का भेद समझने में उनकी बुद्धि काम नहीं करती। वे संसार-मार्ग और मुक्ति-मार्ग को समान मानते हैं। बन्ध और निर्जरा, पुण्य और संवर, मुक्त और अमुक्त तथा साधु और असाधु, इन सब में अभेद-बुद्धि रखते हैं। इस प्रकार की मान्यता, वे धर्म के विषय में ही रखते हैं। सांसारिक विषयों में वे भेद मान सकते हैं। पत्थर और हीरा, लोहा और सोना, घोड़ा और गधा, इत्यादि वस्तुओं को वे समान रूप से नहीं मानते। अशुद्ध सोने का, शुद्ध सोने के समान पूरा मूल्य नहीं देते। वस्त्र को भी वे परीक्षा करके लेते हैं। वनस्पति-घृत का मूल्य, असली घृत के बरावर नहीं चुकाते और वेश्या को माता के समान वंदनीय नहीं मानते, किंतु धर्म के विषय में उनकी विवेक-बुद्धि कुंठित हो जाती है। वे सभी धर्मों को समानरूप से मान कर 'सर्वधर्म समभाव' का सिद्धांत बना लेते हैं। राजनैतिक नेताओं को वे धर्म-नेता या

इससे भी आगे बढ़कर 'धर्म देव' मानने को तय्यार हो जाते हैं और अपनी इस विवेक-हीनता को गुण मानकर इसका प्रचार भी करते हैं। उनकी दृष्टि में अच्छा, बुरा, खरा, खोटा, ऊँचा, नीचा और हेय उपादेय का विचार करना अनुचित होता है। इसे वे साम्प्रदायिकता कहकर निन्दा करते हैं। उनकी मान्यता होती है कि 'पक्षपाती और साम्प्रदायिक लोग ही विभिन्न मतों (जो लोक भाषा में 'धर्म' कहलाते हैं) में भेद मानते हैं।' वास्तव में वे विवेक-विकल हैं।

वेश की प्रधानता नहीं

कई भोले बन्धु कहा करते हैं कि—'हमें किसी के गुण-दोष देखने की क्या आवश्यकता है? हमें तो साधु वेश देखकर ही उनका आदर सत्कार और वंदन व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार रुपये की छाप होने पर ही कागज का नोट चलता है, उसी प्रकार वेश होने पर ही साधु की पूजा होती है। नोट के चलन में कागज की ओर नहीं देखा जाता, उसी प्रकार साधु के या धर्म के गुणदोष देखने की जरूरत नहीं है।" इस प्रकार कहने वाले, अधर्म का पोषण करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि करन्सी से निकला हुआ राजमान्य नोट ही गुण युक्त है। उसके पूरे रुपये प्राप्त हो सकते हैं। किंतु वैसी ही छापवाला नकली गुण-शून्य नोट—'जाली' कहलाता है और ऐसे जाली-नोट चलाने वाला अपराधी होता है। वैसी ही छाप होते हुए भी गुण-शून्य नकली नोट नहीं चलता। उसी प्रकार गुण-शून्य साधु भी मात्र वेश के कारण नहीं पुजा जाता और वीतरागता तथा सर्वज्ञता से रहित,

रागी-द्वेषी छद्मस्थ को देव नहीं माना जाता। जिस प्रकार वेश होने मात्र से नाटक का नकली राजा और सिनेमा के नकली अवतार, आदर-पात्र नहीं होते, सोने का रंग चढ़ाया हुआ लोहा, सोने का मूल्य नहीं पा सकता, उसी प्रकार दूषित तथा गुण-शून्य साधु भी पूजनीय नहीं होता और उसी प्रकार धर्म-संज्ञा प्राप्त कर लेने पर भी अधर्म, धर्म नहीं बन जाता।

धर्म, मनुष्य की आवश्यकता ?

कई पठित एवं उपाधिधारी लोग कहते और लिखते हैं कि–'समय की आवश्यकता के अनुसार धर्मों की उत्पत्ति होती है'। एक विद्वान और तर्कबाज लेखक ने लिखा कि–"गोवध की प्रवृत्ति जब प्रारम्भ हुई, तब वह भी धर्मरूप ही थी। दुष्काल के कारण मनुष्यों की रक्षा ही नहीं हो सकती थी, तब पशुओं का पालन कैसे हो सकता था। उस समय मानव रक्षार्थ पशुवध शुरू हुआ, तो यह भी धर्म ही था। इसमें भी मानव रक्षा का महान् उद्देश्य रहा हुआ था।" इस प्रकार [illegible]-हिंसा आदि अनेक अधर्मों को भी झूठे तर्क लगाकर धर्म मानने और समन्वय करने की कुचेष्टाएँ हुई हैं।

समन्वयवृत्ति

कई लोग, अनेकांत के महान् सिद्धान्त की आड़ करके और अधर्मों की अनेक बुराइयों की उपेक्षा करके, किसी एक थोड़ी-सी अच्छी बात से, सर्वोत्कृष्ट धर्म का समन्वय करते

की कुचेष्टा कर चुके हैं और कर रहे हैं। वास्तव में यह अनेकांत का दुरुपयोग है। जैन सिद्धांत ऐसे दुरुपयोग को स्वीकार नहीं करता। जिसमें मिथ्यात्व रहा हुआ है, वह यदि कुछ जीवों की दया पाले और अपने को अहिंसक बतलावे, तो भी उसके प्रत्याख्यान को 'दुष्प्रत्याख्यान' माना गया है और उसे असंयत अविरत, अनिवृत्त और एकांत-बाल * माना है। श्रीआर्द्रकुमार मुनि ने हस्ति-तापसों और बौद्धादि के झूठे समन्वय को भी स्वीकार नहीं किया ×। व्यवहार में भी सेरभर दूध में बिंदुभर विष हो, तो नहीं पिया जाता। लेकिन धर्म का जहां सवाल आया कि नामधारी विद्वान्, अनेकांत को आगे करके सभी धर्मों को समान बताने की कुचेष्टा करते हैं। यदि अनेकांत के साथ हेय, ज्ञेय और उपादेय के विवेक को स्वीकार किया जाय, तो सारे दोष दूर हो सकते हैं।

सभी समान नहीं

सर्व-धर्म समभाव का प्रचार करने वाले लोग, जैन नहीं वे भगवती सूत्र श. ३ उ. २ लिखित उस तामली तापस जैसे हैं जो 'प्रणामा' नामकी प्रव्रज्या का पालक था और कौआ, कुत्ता आदि सब को प्रणाम करता था। विश्व के सभी जीवों को परमात्म-मय मानकर प्रणाम करने का सिद्धांत, आज भी पढ़ने में आता है। जैसे—

"सिय-राम मय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुग पानी।

---

* भगवती ७-२। × सूयगड़ांग २-६।

यहां सरलता कोमलता एवं नम्रता तो है, लेकिन हेय, ोय, उपादेय का विवेक नहीं है। महात्मा और कसाई सब को ामान कोटि में मानने की बुद्धि यहां स्पष्ट रूप से पाई जाती है। जैन-धर्म इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार नहीं करता। ुण-दोष की सम्यक् परीक्षा करने की दृष्टि और हेयोपादेय का वेवेक जैन-धर्म ने स्वीकार किया है।

जिस प्रकार भिन्न जाति की प्रत्येक वस्तु के मूल्य में अन्तर रहता है, सभी का मूल्य समान नहीं होता, उसी प्रकार सभी मत समान नहीं होते। जिस प्रकार अनेक प्रकार की धातुएँ और खनिज पदार्थ, पृथ्वी में रहे हुए हैं, किंतु उनमें उत्तम जाति का रत्न सबसे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार संसार में माने जाने वाले धर्मों में कोई एक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, सभी धर्म समान नहीं हो सकते।

साधारण बुद्धि वाले बन्धुओं की समझ में सरलता से आ जाय, इस दृष्टि से धर्म के जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन भेद किये जा सकते हैं।

जघन्य धर्म—इस कोटि में वे धर्म आते हैं, जिनमें पापी-प्रवृत्तियों की प्रधानता रही हुई है। अपने हित और सुख के लिये दूसरों का अहित करना, दुःख देना और हत्या करना उनमें उपादेय होता है। पशु-बलि आदि पाप कर्मों का विधान किया जाता है। धर्म, देव और राष्ट्र के नाम पर अत्याचार किया जाता है। इस प्रकार भौतिकवादी विचार धराने वाले धर्म, अधोगति के दाता हैं। अधर्मी होते हुए भी ऐसे लोग धर्मी

कहावें तो भी वे हेय-कोटि में ही आते हैं।

मध्यम धर्म—जो दुखियों की सेवा करना, रोगियों को औषधि देना, अपना बस चलते अपने परिचय में आने वाले स्थूल जीवों को कष्ट नहीं पहुंचाना, निरक्षरता मिटाना, बेकारों को रोजी दिलाना, न्याय-नीति से जीवन व्यतीत करना, द्वेष कलह और झगड़ों को मिटाकर पारस्परिक प्रेम का प्रचार करना, और लोभ तृष्णा तथा क्रोधादि को कम करना—जिनका उद्देश्य है, वे सब मध्यम कोटि के धर्म हैं। उनकी न तो मोक्ष में श्रद्धा है और न उच्च आचार का पालन है। ऐसे मध्यम-मार्ग विचार रखने वाले मत, दूसरी श्रेणी में आते हैं।

उत्तम—सर्वोत्तम धर्म वही है जो सर्वोत्तम स्थिति को प्राप्त करने का उद्देश्य रखता है। परमार्थ (मोक्ष) प्राप्ति ही जिसका ध्येय हो, परमार्थ साधना में निवृत्ति का सहारा लेकर आत्मा को हलका बनाने की साधना हो, ऐसा आभ्यन्तर दृष्टि प्रधान धर्म ही सर्वोच्च स्थान पा सकता है। ऐसा सर्वोच्च धर्म भी उत्तम रत्न की भांति एक ही हो सकता है और वह है—श्री जिन-धर्म। इसकी विशेषताएं अजोड़ हैं, अद्वितीय हैं। संसार का कोई भी धर्म इसकी समानता नहीं कर सकता। इस प्रकार उत्तम धर्म पाकर भी जो इसकी सर्वोच्चता नहीं मानकर—'सर्व धर्म समभाव' के मोहक चक्कर में पड़ गए हैं, वे वास्तव में समझदार नहीं हैं और अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्व को अपनाए हुए हैं।

हमारे जमाने में लाखों जैनी, इस मिथ्यात्व के चक्कर

में फँस गए। यह एक मोहक मिथ्यात्व है। साधारण जनता, सरलता से इसके चक्कर में पड़ जाती है। श्रद्धा बिगाड़ने में इस मिथ्यात्व का उपयोग बहुत हुआ है। जैन-जनता इस मिथ्यात्व से बचे, यही अभ्यर्थना है।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व के पात्र में तटस्थ-वृत्ति होती है। यदि उन्हें समझाने वाला मिले और श्री जिनधर्म की सर्वोच्चता उनके ध्यान में आजाय, तो वे सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। उनसे यह मिथ्यात्व छूटना सरल होता है, किंतु यदि उनमें आग्रह आजाय तो वे आभिग्रहिक मिथ्यात्व में चले जाते हैं। कई जैन कहाने वालों के मानस तो ऐसे होते हैं कि जैनधर्म की विशेषता समझने पर भी लौकिकवाद से प्रभावित होकर, वे अपने आग्रह को दृढ़ता से पकड़ रखते हैं। उनके समझने के लिए अनेक साधन होते हुए भी वे अपने आग्रह को नहीं छोड़ते और अपने सर्वधर्म-समभाव के सिद्धांत के—जो उन्होंने दूसरों से प्रभावित होकर अपनाया है, आग्रही बन जाते हैं। वे अभिनिवेश-मिथ्यात्व में ही चले जाते हैं, फिर उनका स्थान अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व में भी नहीं रहता।

१३ आभिनिवेशिक मिथ्यात्व

अपने पक्ष की असत्यता समझकर भी जो उसे दृढ़ता पूर्वक पकड़ रखे और उसे सत्य सिद्ध करने के लिए प्रपञ्च करे, वह 'अभिनिवेश मिथ्यात्व' का पात्र है।

इस मिथ्यात्व में पक्ष-व्यामोह की प्रधानता होती है।

अहंकार इस मिथ्यात्व का मूल है। प्रतिष्ठित और बहुजन-मान्य व्यक्तियों में से भूल को सुधारकर सत्य अपनाने वाले विरले ही होते हैं। अधिकांश अपनी, और अपने पक्ष की असत्यता का अनुभव करते हुए भी केवल अहंकार के कारण उस असत्य को पकड़ रखते हैं और अपनी विद्वत्ता, योग्यता, प्रतिष्ठा तथा संबंध का उपयोग कर के सत्य-पक्ष को दबाने और नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे सोचते हैं,–

"यदि मैं अब अपनी भूल स्वीकार करलूँगा, तो लोगों में मेरी प्रतिष्ठा घट जायगी, और सामने वाले की प्रतिष्ठा बढ़ जायगी,"–इस प्रकार का दुर्विचार इस मिथ्यात्व का मूल कारण है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि 'जहां तक छद्मस्थता है, वहां तक भूल होने की सम्भावना है ही। इसलिए इस भूल के शूल को शीघ्र ही दूर करके अपनी आत्मा को शुद्ध बनालूँ।"

सम्यग्दृष्टि चाहकर भूल नहीं करता, किंतु अनुपयोग अथवा गलत धारणादि के योग से भूल होजाती है, यदि उसे मालूम हो जाय कि 'मेरी कही हुई अथवा लिखी हुई बात गलत है,' तब शीघ्र ही उस भूल को सुधार कर सत्य स्वीकार करने को वह तत्पर रहता है। यह तत्परता और भूल-सुधार उसे मिथ्यात्व से बचाते हैं। उसकी भावना में अपनी भूल प्रकट होने का भय नहीं, किंतु भूल दूर होकर सत्य प्रकट होने की प्रसन्नता होनी चाहिए। उस में यह भावना हो कि "मेरे द्वारा कभी भी सत्य का अपलाप नहीं हो"। यह बात जितनी कहने में सरल है, उतनी करने में सरल नहीं है। कहते तो दोनों

पक्ष वाले ऐसा ही है, परन्तु करते समय अप्रतिष्ठा का विचार सामने आकर खड़ा हो जाता है और उस आत्मा को अभिनिवेश मिथ्यात्व में ले जाता है। कमलप्रभः आचार्य ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के कारण ही सत्य को छुपा कर अनन्त संसार बढ़ाया था। हम अपने जीवन में ऐसे कई प्रसंग देख चुके और देख रहे हैं। हमारे सामने ऐसे अनेक प्रमाण है कि जिसमें प्रतिष्ठा के भूत के प्रभाव से, असत्य पक्ष को पकड़े हुए अनेक व्यक्ति बैठे हैं। लोंकाशाह की क्रान्ति का कारण क्या था? संस्कृति-रक्षक संघ स्थापना का निमित्त क्या हुआ? हमारी धर्म-सम्मत आगम-सम्मत एवं अकाट्य बातें स्वीकार क्यों नहीं हुई? आगमों में हुआ परिवर्तन, सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है, उसे साधारण मनुष्य भी समझ सकता है, किंतु इस प्रतिष्ठा के भूत ने किसी को अपना हठ नहीं छोड़ने दिया। साधुओं की गोचरी के विरुद्ध. विद्रोही विचार प्रकट करने वाले ने, अपने असत्य को सत्य बताने के लिए, आगमों को अप्रामाणिक बताने की कोशीश तो की, परन्तु अपनी भूल स्वीकार नहीं की। जब कि जैन-जनता जानती है कि संवर युक्त जीवन वाले जैनमुनि, आस्रवपूर्ण जीवन नहीं बिता सकते, और बिना आस्रवी जीवन के स्वोपार्जित भोजन निष्पन्न नहीं हो सकता। आस्रवमय जीवन, जैन गृहस्थों का है, साधुओं का नहीं। बिना किसी दबाव से, भक्ति पूर्वक दिये हुए स्वल्प भोजन को 'खून' जैसी एकान्त खोटी उपमा देना, विद्वत्ता के नाम पर भारी कलंक है। जैसे प्रेम से पिलाये हुए माता के दूध की उपमा दी जानी

चाहिए, उसे जीवित मनुष्य की चमड़ी में से बरबस निकाले हुए खून की नीचातिनीच उपमा देकर और उसके द्वारा जैन मुनियों के प्रति अपनी भयंकर घृणा व्यक्त करते हुए भी जो सच्चे बनने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, उन पर अभिनिवेश का पूरा प्रभाव है। और इस खोटे पक्ष को अनेकों ने तथा प्रसिद्ध संस्था ने अपने गले मढ़ लिया है। इस प्रकार अभिनिवेश मिथ्यात्व के प्रभाव में अनेक व्यक्ति आगए हैं।

कई लोग "हम वाद-विवाद पसंद नहीं करते। आलोचनाओं में क्या धरा है, हम तो इनकी उपेक्षा ही करते है," इत्यादि शब्दों से उपेक्षा करके शान्ति के उपासक-सा डौलकर चुपचाप रहते हैं। यह ठीक है कि इससे वाद-विवाद नहीं बढ़ता, परन्तु इस चुप्पी की ओट में असत्य को छुपाया जाता है और सत्य की बलि देकर शान्ति के उपासक का दंभ होता है। हार्दिक सरलता और सत्यप्रियता तो तब मानी जाय कि अपने असत्य को–अपनी भूल को उसी प्रकार जाहिर में स्वीकार कर मिथ्यामल को दूर किया जाय, जिस प्रकार असत्य का प्रचार किया था।

बहुत से लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की ओट लेकर मनमानी खोटी मान्यता चलाते हैं। कई प्रतिसेवना-कुशील और बकुस निर्ग्रंथ के चारित्र की ओट में, महाव्रत भंग जैसे बड़े दोषों का–अनाचारों का बचाव करते हैं। ये सब मिथ्या बातें हैं। द्रव्य क्षेत्र और काल, यह नहीं कहता कि तुम औदयिक भाव में धर्म मानो। किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में बन्ध को धर्म नहीं माना जाता, संवर-निर्जरा को ही धर्म के साधन

माना जायगा। आज भी कोई आगमानुसार प्ररूपणा करे और संयम का रुचिपूर्वक पालन करे, तो द्रव्य-क्षेत्रादि की बाधा उत्पन्न नहीं होती। परिहार-विशुद्ध, सूक्ष्म-संपराय तथा यथाख्यात चारित्र और भिक्षु-प्रतिमा के लिए द्रव्य-क्षेत्रादि की बाधा चल सकती है, सामान्य साधुता के लिए नहीं और श्रद्धा में तो कुछ भी बाधा नहीं आती। किंतु विकारी-दृष्टि वाले लोग, द्रव्य-क्षेत्रादि की खोटी ओट लेकर मिथ्या प्रचार करते रहते हैं।

कई लोग "काले कालं समायरे" इस एक चरण को लेकर भ्रम फैलाते हैं, किंतु इसके पहले के तीन चरण छोड़ देते हैं, जिसमें लिखा है कि—

"कालेण णिक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे"
(उत्तरा. १-३१)

इसमें लिखा है कि भिक्षाकाल के समय ही गोचरी के लिए निकले और पुनः यथाकाल ही वापिस लौट आवे तथा अकाल को छोड़कर नियत समय पर ही उस काल की क्रिया करे, अर्थात् प्रतिलेखना, स्वाध्याय, ध्यान, गोचरी, प्रतिक्रमणादि सभी क्रिया यथाकाल ही करे। इस विधान का उल्टा अर्थ लगाकर, काल (जमाना) अर्थात् जमाने के अनुसार चले। बस उल्टी मति को जैसा-तैसा शास्त्र प्रमाण मिलगया। यह हालत है—मिथ्याभिनिवेश की।

अभिनिवेश-मिथ्यात्व की उत्पत्ति प्रायः सम्यग्दृष्टियों

में ही होती है। जिस सम्यग्दृष्टि विद्वान से, भूल अथवा संशय से, या फिर औरों के प्रभाव से सिद्धांत के विरुद्ध प्ररूपणा हो जाती है, वह फिर अभिमान वश छूटती नहीं। फिर वह किसी भी प्रकार से उसे सच्ची सिद्ध करने की ही चेष्ठा करता है। इतिहास प्रसिद्ध निन्हवों में, आग्रह के जरिये यह अभिनिवेश मिथ्यात्व घुसा था। यह अभिनिवेश मिथ्यात्व, संयमियों के संयम को भी विषमय बना देता है।

धर्म में सौदा नहीं

कुछ बन्धुओं ने धर्म को भी सौदे की चीज बनाली। उनका कहना है कि कुछ तुम्हारी बात रख दें, कुछ उनकी और झगड़ा साफ कर दिया जाय। उनकी दृष्टि में सिद्धांत और तत्त्व भी बीच-बचाव की चीज होती है। उनका प्रयत्न होता है कि दोनों को कुछ न कुछ अपना छोड़ना और विपक्षी का अपनाना पड़ता है, तभी समझौता होता है। आस्रव पक्ष वाले को कहे कि 'तू थोड़ा संवर पक्ष अपना ले और संवर पक्ष को कहे कि तू थोड़ा आस्रव अपना ले, तभी समझोता होगा'। इस प्रकार मिश्रधर्म बनाने वाले, यह नहीं समझते हैं कि धर्म किसी की बपौती नहीं कि वह चाहे जैसे फैसले या समझोते में बांध सके, या उसमें चाहे जो न्यूनाधिक कर सके। रुपये के पौने सोलह आने या नये ९९ पैसे करने का किस को अधिकार है?

आगमोक्त सत्य पर दृढ़ रहना, सम्यक्त्व की साधना है। यह भूषण है. दूषण नहीं, दूषण है असत्य को जानबूझकर पकड़ रखना और यही आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

१४ सांशयिक मिथ्यात्व

देवादि के विषय में अथवा तत्त्व के विषय में शंकाशील होना—सांशयिक-मिथ्यात्व है।

जिनागमों में निरूपित तत्त्व, मुक्तात्मा के स्वरूप अथवा जिनेश्वरों की वीतरागता सर्वज्ञतादि में संदेह करना, आगमों की 'अमुक बात सत्य है या असत्य'—इस प्रकार की शंका करना, इस मिथ्यात्व के उदय का परिणाम है।

शंका तो सम्यग्दृष्टि के मन में भी उत्पन्न होती है। आगम की कोई बात समझ में नहीं आने पर सम्यक्त्वी के मन में भी शंका का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के दलिकों का प्रदेशोदय रहता है और उसके रहते परिणाम में चलमल होता है। यह प्रदेशोदय ही शंका का कारण होता है। यदि शंका स्थिर हुई, तो सांशयिक मिथ्यात्व हो गया। सांशयिक मिथ्यात्व से बचने का एक मात्र संबल, जिनेश्वर के वचनों में दृढ़ विश्वास होना है। यदि मन में "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"—रूप आस्था दृढ़ीभूत हो जाय, तो इस मिथ्यात्व से बचना बहुत सरल हो जाता है।

आगमिक सत्यता

विचारक के सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह सोचता है कि—"कौनसा आगम सर्वज्ञ-कथित है? सभी लोग अपने अपने मान्य शास्त्रों को सर्वज्ञ-कथित एवं प्रामाणिक मानते हैं। दूसरों को छोड़ दें, तो जैनधर्म के दिगम्बर, श्वेताम्बर,

स्थानकवासी आदि सम्प्रदायों के भी आपस में शास्त्र-भेद तथा मान्यता-भेद चल रहा है और नये नये भेद खड़े हो रहे हैं। आगमों के पाठ-भेद भी बहुत हैं और चाहकर परिवर्तन भी किए हैं, तब 'पुस्तक में लिखा वह सभी जिनेश्वर प्रणीत ही है'-ऐसा कैसे विश्वास किया जाय ? प्रश्न उचित है। अपने शास्त्रों को भगवद्-कथित एवं प्रामाणिक सभी मानते हैं, किंतु इनके परखने की कसोटी तो जैनियों के पास है ही। अजैन शास्त्रों की परीक्षा तो जैनी सरलता से कर सकता है। वह जानता है कि जिन शास्त्रों एवं वचनों में,भौतिक सुख-समृद्धि की कामना, तथा रागद्वेष वर्द्धक और आरंभ परिग्रह समर्थक विधान हों, जिनमें विषय कषाय पोषक विषय हों, वे रागियों और छद्मस्थों के बनाये हुए हैं और उनसे संसार-परिभ्रमण ही होता है। जिनागम, इन दूषणों से रहित है, इसलिए आदरणीय है। इस प्रकार जैनेतर शास्त्रों से जिगागमों की उत्तमता स्वतः सिद्ध है।

जैन सम्प्रदायों में भी एक दूसरे की आगम सम्बन्धी मान्यता में अन्तर है। श्वेताम्बर समाज के सर्व-सम्मत ३२ सूत्रों में भी लेखकों द्वारा अनजाने भी अशुद्धियें हो गई है और कहीं किसी ने चाहकर भी परिवर्तन किया है, जैसा कि 'सुत्तागमे' में परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन आगमों के इतिहास की महान् कलंकित एवं अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। इस भयंकर दुःसाहस ने बहुतों के मन में यह सन्देह भर दिया है कि "पहले भी किसी ने मताग्रह से पाठ परिवर्तन की कुचेष्टा की होगी ?"-इस प्रकार साधारण जनता को अत्यधिक सन्देहशील बनाकर

सांशयिक-मिथ्यात्व में डाल दिया। इसके सिवाय कुमार्गगामी तर्कवादियों ने भी सांशयिक-मिथ्यात्व को बढ़ाने के बहुत कुछ दुष्कृत्य किये हैं। फिर भी सुविज्ञ श्रद्धालु धर्मबन्धुओं की श्रद्धा को सुरक्षित रखने का महान् अवलंबन आज भी मौजूद है। उपस्थित आगमों में जैनधर्म की आत्मा, अभी भी सर्वथा सुरक्षित है। जैनधर्म का महान् उद्घोष है कि–'सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मोक्ष मार्ग है। और मोक्ष मार्ग ही जैनधर्म का लक्ष है। बंध और उसके कारण हेय है, और मोक्ष तथा उसके कारण (संवर निर्जरा) उपादेय है।' जो विधान उपरोक्त कसौटी के अनुकूल हों, वे सत्य है और विपरीत हों तथा लक्ष से दूर ले जाते हों, वे असत्य हैं। यदि समझने की इतनी बुद्धि हो, और हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक हो, तो अपनी आत्मा को सांशयिक मिथ्यात्व से बचाया जा सकता है।

"जिनेश्वर भगवंत वीतराग हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं"–इतना भी विश्वास हो और यह भी श्रद्धा हो कि–"वीतराग भगवंत कभी भी आरंभ-परिग्रह जन्य उपदेश नहीं देते," तो इस श्रद्धा के आधार पर सम्यग्श्रुत और मिथ्याश्रुत का विवेक किया जा सकता है और सांशयिक-मिथ्यात्व से बचा जा सकता है।

भौतिक विज्ञान की क्षुद्रता

सांशयिक-मिथ्यात्व को बढ़ाने के अन्य कारणों में भौतिक-विज्ञान भी निमित्त बना है। भौतिक-विज्ञान के प्रभाव में आये हुए कई 'जैन पंडित' कहाने वालों ने साधारण जनता को

शंकाशील बनाकर मिथ्यात्व में धकेल दिया है। कोई कोई प्रसिद्ध विद्वान तो स्पष्ट लिख चुके हैं कि—"आजकल के वैज्ञानिक तथ्यों के आधार से आगमों में संशोधन करना चाहिए,"—इस प्रकार लौकिक ज्ञान को आधारभूत मानकर, लोकोत्तर धर्म में परिवर्तन करने की मिथ्या बातें प्रचलित कर के सांशयिक-मिथ्यात्व का खूब विस्तार किया गया है। यह सभी जानते हैं कि भौतिक-विज्ञान भी अभी अपूर्ण ही है और सदाकाल छद्मस्थों के लिए अपूर्ण ही रहने का। साधना के चलते एक मनुष्य में जो शक्ति विकसित हो सकती है, और उससे बिना किसी खर्च के वह जो भौतिक शक्ति प्राप्त कर सकता है, उसका शतांश भी इन भौतिक-विज्ञानियों में नहीं है। जिनागमों में बताया है कि साधना के बल पर प्राप्त की हुई वैक्रिय-शक्ति से मनुष्य, अपने लाखों करोड़ों रूप बना सकता है। अपनी ही आत्मशक्ति से करोड़ों मनुष्यों की सशस्त्र सेना बना सकता है और अपनी क्रुद्ध-दृष्टि मात्र से हजारों लाखों का संहार भी कर सकता है। वैक्रिय-लब्धि वाला मनुष्य, देव के समान शक्ति रखता है। लब्धि-संपन्न मुनि, जब प्रमादवश होता है, तब बिना किसी वाहन के (जंघाचरण विद्याचरण) थोड़ी ही देर में लाखों माइल दूर जा सकता है। मन्त्रवादी साधु, थाली को आकाश में चढ़ाकर (नकली चाँद दिखाकर) अमावश्या को पूर्णिमा बता सकता है, और आहारक-लब्धि वाला साधु, अपने शरीर में से ही छोटा-सा मानव बनाकर, मुहूर्त-मात्र में लाखों माइल दूर भेजकर वापस बुला सकता है। तब आज का भौतिक विज्ञान, अरबों

डालर खर्च करके भी उनके समकक्ष नहीं पहुँच सका, और आगे भी नहीं पहुँच सकेगा। भौतिक-विज्ञान का प्रत्यक्ष-ज्ञान भी पूर्ण रूप से जिनेश्वरों में ही था। उनके अनन्तवें भाग का ज्ञान रखने वाले को आधारभूत मानकर, उससे जिनेश्वरों के वचनों की परीक्षा करने की उल्टी बातों पर विश्वास करने वाले, सचमुच दर्शन-मोहनीय कर्म के पंजे में पड़े हुए हैं।

बुद्धिमान् पाठक, आत्मोत्थान में अनुपयोगी ऐसे भौतिक विज्ञान की क्षुद्रता पर विचार कर, इस मिथ्यात्व की जाल से बचें और अपनी आत्मा को सांशयिक मिथ्यात्व के दलदल से बचावें, तथा निर्ग्रंथ-प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रखें, यही निवेदन है।

१५ अनाभोगिक मिथ्यात्व

अज्ञान के गाढ़ अन्धकार में पड़े हुए जीवों को यह मिथ्यात्व लगता है। जिन जीवों को किसी भी प्रकार के मत का पक्ष नहीं होता, और जो धर्म-अधर्म का विचार ही नहीं कर सकते, वे अनाभोगिक मिथ्यात्वी हैं। पहले बताये हुए अन्य मिथ्यात्व तो मिथ्या विचार रखने वाले दर्शनों के पक्ष में पड़ने या उनकी ओर ललचाने से लगते हैं, किंतु यह मिथ्यात्व तो किसी भी पक्ष से निरपेक्ष रहने पर लगता है। एकेन्द्रिय से लगाकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव, इसी मिथ्यात्व के अन्तर्गत हैं। जिन जीवों के मन ही नहीं, वे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के विषय में सोच ही नहीं सकते। अपने जीवन संबंधी बनी बनाई ओघ-दृष्टि के सिवाय उनमें मत-पक्ष की बात ही

नहीं होती। उनमें किसी प्रकार का वाद ही नहीं होता।

कई संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी ऐसे होते हैं, जिनकी धार्मिक मत-मतान्तरों के विषय में सोचने और पक्ष-विपक्ष को अपनाने की रुचि ही नहीं होती। उनके सोचने विचारने के विषय, अपनी अजीविका-धन्धा रोजगार या भोगोपभोग संबंधी होते हैं। इसके सिवाय विभिन्न धार्मिक दर्शनों-मतों सम्बन्धी विचार करने की योग्यता ही उनमें नहीं होती अर्थात् उनकी विचार-शक्ति अत्यंत मंद होती है।

जिस प्रकार विवेकहीन व्यक्ति, अपना हिताहित नहीं सोच सकता, उसी प्रकार अनाभोग-मिथ्यात्वी भी आत्महित के विषय में अच्छा बुरा कुछ भी नहीं सोच सकता।

अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक और सांशयिक मिथ्यात्व उन्हीं जीवों में होता है—जो अभव्य नहीं हों। क्योंकि अनाग्रह वृत्ति जैसी उज्ज्वलता, अभव्य में आना संभव नहीं लगता, और अभिनिवेश का सम्बन्ध तो उसी से होना संभव है, जो सम्यग्-दृष्टि रहा हो और बाद में किसी विषय में मिथ्यापक्ष पकड़कर आग्रही बन गया हो। तथा सांशयिक-मिथ्यात्व भी उसे ही लगना संभव है, जिसे पहले श्रद्धा हो चुकी हो और बाद में संशय हुआ हो।

अभव्य को आभिग्रहिक और अनाभोगिक मिथ्यात्व ही हो सकता है और भव्य को सभी। असंज्ञी अवस्था में केवल अनाभोग-मिथ्यात्व लगना संभव है। यद्यपि भव्य में सभी प्रकार के मिथ्यात्व लगना संभव है, तथापि एक समय में किसी

एक प्रकार का ही मिथ्यात्व होता है।

अनाभोग-मिथ्यात्व में जीव ने जितना समय गँवाया, उतना अन्य मिथ्यात्व में नहीं गँवाया। अनन्तकाल की स्थिति है, तो केवल अनाभोग-मिथ्यात्व की ही। वनस्पत्तिकाल जितनी स्थिति इसी मिथ्यात्व की है।

तटस्थता नहीं

यदि कोई सोचे कि–'यह स्थिति पक्षपात और मतवाद रहित तटस्थ अवस्था की है। जो पक्षपात में पड़कर एक को खरा और दूसरे को खोटा कहते हैं, उनकी अपेक्षा यह स्थिति अच्छी है,'–इस प्रकार सोचने वाले वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ हैं। यह स्थिति तटस्थता की नहीं, किंतु उस बेहोश व्यक्ति जैसी है, जिसे अपने हिताहित का कोई भान ही नहीं है। कोई लूट ले, काट डाले या जला डाले, तो भी वह कुछ भी नहीं कर सकता। मन के अभाव में इस प्रकार की गाढ़-मूढ़ता को तटस्थता अथवा निष्पक्षपातता कहना–वैसी ही भूल है, जैसी अपंग, मूर्च्छित और मरणासन्न व्यक्ति को क्षमाशूर मानने में है।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी में तटस्थता होती है, किंतु वह तटस्थता सत्य और असत्य के मध्य होती है। इसलिए वह सत्य का आदर करने वाला भी नहीं माना जाता, क्योंकि वह दोनों को समान कोटि में स्थान देता है। सम्यग्दृष्टि वही हो सकता है, जो असत्य पक्ष को नहीं अपनाता है और सत्य को स्वीकार करता है। मिश्र-पक्ष की दशा शुद्ध नहीं, मैली ही होती है।

१६ लौकिक मिथ्यात्व

लोकोत्तर परम-सत्य को और उसके निमित्त सुदेव, सद्गुरु और सम्यग्-धर्म की उपेक्षा करके, लौकिक उपास्य की उपासना करना–"लौकिक-मिथ्यात्व" है। इसके तीन भेद हैं। १ देव विषयक २ गुरु विषयक और ३ धर्मगत लौकिक-मिथ्यात्व।

देव विषयक लौकिक मिथ्यात्व

जो रागद्वेष से युक्त है, जो कामी, क्रोधी, मायावी, लोभी और अहंकारी हैं, जिनका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ। जो भक्तों को वरदान और विरोधियों को शाप देते हैं, जिनके गले में नरमुंड की माला है, जिनके हाथ में शस्त्र है और बगल में स्त्री है, तथा जो वाहन पर सवार होते हैं, वे सब लौकिक देव हैं। वे खुद लोक में ही रचे हुए हैं और लोक में परिभ्रमण करते रहने की उनकी परिणति है। उनके बताये विधिविधान भी लौकिक जीवन को ही स्पर्श करते हैं। इस प्रकार के लौकिक देवों को सुदेव के रूप में मानना मिथ्यात्व है।

लौकिक कार्य के लिए ?

यदि कहा जाय कि–"हम उन्हें सुदेव नहीं मानते और मोक्ष के लिए उनकी उपासना नहीं करते, किंतु सांसारिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन्हें मानते हैं, इसलिए हमें मिथ्यात्व नहीं लगता। श्रावकों के लिए छः आगार भी तो सूत्र में रखे गये हैं" ? इस प्रकार के बचाव के समाधान में कहा जाता है कि–

स्वार्थ के कारण मिथ्यात्वी देवों को मानना, श्रावक का कर्त्तव्य नहीं है। जिसके मनमें यह दृढ़-श्रद्धा हो कि—"कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। इन लौकिक देवों की यह शक्ति नहीं कि हमारे कर्म-परिणाम को पलट सके," वे तो इस मिथ्यात्व से दूर ही रहते हैं।

श्रावकों के जो आगार हैं, उनमें पाँच तो दूसरे व्यक्तियों के दबाव के कारण हैं। वहां उस श्रावक का हृदय, उन देवों के प्रति भक्ति नहीं रखता, किंतु दबाव के कारण उसका शरीर झुकता है। दूसरों का दबाव शरीर पर ही चल सकता है, भावों पर नहीं। अंतिम आगार विषम परिस्थिति को पार करने से संबंधित है, वह भी ऊपरी मन से। किंतु अभी तो स्थिति ही दूसरी है।

लोग, जिन्हें 'देव' कहते हैं, वहाँ देव का सद्भाव भी है, या सब पोलंपोल ही है,—यह कोई नहीं देखता। भेड़चाल में पड़कर चाहे जिस मूर्ति या चित्र के आगे भावपूर्वक झुक जाना भी वैसी ही मूर्खता है, जैसी मुर्दे के साथ अलाप-संलापादि क्रिया करना है।

कितनी बड़ी भूल

बिना किसी खास कठिनाई के खोटी रुढ़ि के वश होकर, अथवा भोंदू बनकर, त्योंहारों के अवसरों पर कल्पित देवों को मनाना भी केवल मिथ्यात्व सेवन करना है; क्योंकि वहां न तो कोई कठिनाई है और न कोई दवाव ही। एक खोटी रुढ़ि को मूर्ख बनकर चलाना है। हमारी कितनी गहरी भूल है

कि हम ऐसी जड़ वस्तुओं को भी पूजते हैं कि जिनके पीछे किसी देव की कल्पना ही नहीं है। जैसे–बही, दावात, कलम और सोना, चाँदी, रुपया आदि धन। कई जैन व्यापारी, सदैव प्रातःकाल दुकान को प्रणाम करते हैं, कल्पित चित्रों को प्रणाम करते हैं, उस समय उन्हें 'जिनेश्वरों के उपासक' कहना या 'जड़ोपासक–धनोपासक' कहना ?

लग्न का प्रारंभ ही मिथ्या देव की पूजन के साथ किया जाता है। पहला मंगल-गान भी उन्हीं का होता है और पहला आमन्त्रण-पत्र भी उन्हें ही लिखा जाता है, उसके बाद दूसरे कार्य होते हैं। कुछ देशों में–कुम्हार का चक्र उकरड़ी, कूड़े-करकट का ढेर आदि अनेक चीजें पुजी जाती है। लग्न-विधि भी मिथ्या विधानों से युक्त होती है, तथा लग्न के बाद वर-वधू भैरू, भवानी, सीतला, हनुमान आदि अनेक लौकिक-देवों को पूजते हैं। यह सब व्यर्थ का मिथ्यात्व सेवन है।

वर्त्तमान में कुछ सुधारकों की दृष्टि "जैन विवाह पद्धति" अपनाने की ओर है। इस विषय की कुछ पुस्तकें भी पहले देखी थीं, किंतु उनमें भी व्यर्थ के क्रिया-कलाप बहुत थे। वास्तव में जैन-धर्म को किसी का विवाह कराना स्वीकार नहीं है। किंतु सभी जैनी अविवाहित रहें, यह असंभव है। इसलिए लग्न-बंधन से मोह को मर्यादित करने के लिए लग्न किये जाते हैं। लग्न का उद्देश्य ही वर-वधू का सम्बन्ध जोड़ना है, जो सर्वत्र–सभी जातियों, सभी वर्गों, सभी देशों और सभी राष्ट्रों में समान रूप में है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। इस उद्देश्य के

ाथ जो रीति-रिवाज और विधि-विधान लगे हैं, वे सब भिन्न
भिन्न हैं। उनमें परिवर्तन हो सकता है। जैनियों को ऐसी विधि
ापनानी चाहिए कि जिसमें अनुचित एवं व्यर्थ जैसा कुछ भी
ाहीं हो और हितकारक पद्धति हो।

सम्बन्ध उन्हीं के साथ हो, जहां आचार, विचार, स्व-
भाव तथा वय आदि समान हों। सम्बन्धियों की साक्षी से वर-
कन्या को परस्पर वचनबद्ध करना और वर को 'स्वदारसंतोष'
तथा कन्या को 'स्वपति-संतोष' व्रत धारण करवाना चाहिए।
व्रत की प्रतिज्ञा गुरु के समक्ष अथवा योग्य व्रती-श्रावक के समक्ष
होकर मंगल-पाठ के साथ लग्न-विधि पूर्ण हो सकती है। इसमें
न तो किसी देव देवी के मनाने की आवश्यकता रहती है और
न हवन-पूजनादि की। महिलाओं द्वारा मंगलगान भी तदनुरूप
ही हो। इस प्रकार सरलतापूर्वक लग्न-क्रिया संपन्न कर लौकिक
मिथ्यात्व से बचा जा सकता है।

जैनियों के त्योहारों और लग्न-प्रसंग पर ही नहीं, अन्य
कई प्रसंग पर भी लौकिक मिथ्यात्व का सेवन होता है। जैसे
'माता,' 'मोतीझरा' आदि कई रोगों को देवरूप मानना।
इस प्रकार की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब लौकिक देव विष-
यक मिथ्यात्व है।

गुरु विषयक लौकिक मिथ्यात्व

लोकोत्तर गुरु वेही हैं, जिनका लक्ष्य लोकोत्तर है और
लोकोत्तर लक्ष रखते हुए तदनुसार आचार का पालन करते-

कराते हैं। लोकोत्तर आचार अर्थात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का पालन कर, निरवद्य जीवन व्यतीत करते हैं। जिनका आचार-विचार और प्रचार लोकोत्तर हो, लौकिक नहीं हो, वे 'लोकोत्तर गुरु' कहलाते हैं। इसके सिवाय सब लौकिक-गुरु हैं। लौकिक गुरु को लोकोत्तर मानना मिथ्यात्व है और उनको लौकिक मानते हुए भी उनकी सेवा-भक्ति आदि करना भी मिथ्यात्व है। कलाचार्य और शिल्पाचार्य, लौकिक धर्म-गुरु नहीं कहलाते। अन्य साधनों के अभाव में अन्य-धर्मियों के पास कला सीखने जाना—एक बात है और लौकिक-गुरुओं की सेवा-भक्ति करना—दूसरी बात है।

आजकल लोकोत्तर गुरु कहलाने वालों में से किन्हीं में लौकिकता आगई है। वे संसार-लक्षी सावद्य प्रचार करते हैं। ऐसे लोगों को लोकोत्तर गुरु नहीं माना जा सकता, क्योंकि लौकिकदृष्टि वाले लोकोत्तर नहीं हो सकते। यदि जैनियों में यह मिथ्यात्व नहीं होता, तो साधुओं को लौकिक-मिथ्यात्व सेवन करने की हिम्मत नहीं होती।

धर्मगत लौकिक मिथ्यात्व

संवर, निर्जरा और मोक्ष ही धर्म है। इनमें मोक्ष, साध्य है और संवर निर्जरा साधन हैं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यग् तप, इन चार (प्रथम के दो साधन नेत्र रूप, और बाद के दो चरण रूप हैं) से मोक्ष की ओर गमन होता है। पुण्य स्वतः तो बंध रूप ही है, किंतु यह मिथ्यादृष्टि

लिए संसार का और सम्यग्दृष्टि के लिए मोक्ष में कथंचित् हायक हो सकता है, फिर भी तत्त्व-दृष्टि से यह बंध का कारण ने से धर्म में नहीं गिना जाता। इस प्रकार बन्ध को रोकने र्थात् आस्रवद्वार को बंद करने और बंध को काटने की प्रवृत्ति सिवाय जितनी भी आस्रव और बंध की क्रियाएँ हैं, वे सम्यक् ारित्र नहीं है। संसार की दृष्टि से जितनी भी धार्मिक साधना । जाती है, वह सब धर्मगत मिथ्यात्व है।

अजैन सम्पर्क के प्रभाव से, जैनियों में अनेक मिथ्या-क्रियाएँ प्रचलित हैं, जो लौकिक धर्मगत मिथ्यात्व को सिद्ध कर रही है। अजैन-परंपरा में मरणासन्न व्यक्ति को पलंग अथवा विस्तर पर नहीं मरने दिया जाता। उसे नीचे पृथ्वी पर लिटाकर यह माना जाता है कि "वह पृथ्वी माता की गोद में चला गया और इससे इसे धर्म एवं सद्गति हुई"। जैन-सिद्धांत कहता है कि मरणासन्न व्यक्ति को महा-वेदना होती है। इसलिए उसे हिलाना भी नहीं चाहिए। उसके लिए यही उचित है कि धर्म की ओर लक्ष दिलाकर उसकी भावना शुभ रखी जाय, जिससे उसकी शुभगति में सहायता हो। किंतु अजैन प्रभाव के कारण जैनी लोग भी पृथ्वी को गोबर से लीप कर, मृत्यु की महा-वेदना से घिरे हुए दुखी जीव को, विस्तर पर से हटाकर पृथ्वी पर सुलाते हैं और उसके दुःख में अत्यधिक वृद्धि कर हिंसा के भागीदार बनते हैं। यह कितनी मूर्खता है। वे यह क्यों नहीं समझते कि सद्गति अथवा दुर्गति, जीव की अपनी करणी से ही होती है, पृथ्वी पर प्राण निकलने से नहीं। यदि

पृथ्वी पर मरने से ही सुगति होती, तो एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंच, नारक और बहुत-से दरिद्र मनुष्य, पृथ्वी पर ही प्राण छोड़ते हैं, वे सभी धर्मात्मा और सद्गति के पात्र हो जाते, फिर भले ही उनमें हत्यारे, चोर, डाकू और नर-संहारक तथा अन्त तक अशुभ-परिणामी ही रहे हों?

मृत्यु के बाद दूसरे तीसरे दिन मृतक के लिए भोजन बनाकर स्मशान में लेजाना, पानी ढोलना, नुकता-मोसर आदि सब मिथ्या-क्रियाएँ हैं। जैनियों को इस मिथ्यात्व से अपना पिंड छुड़ा लेना चाहिए।

जो सज्जन, 'प्रमुख श्रावक' अथवा 'अग्रसर श्रमणोपासक' कहकर, इस प्रकार के लौकिक-मिथ्यात्व का सेवन करते हैं, वे साधारण श्रावकों की मिथ्यात्व में रुचि बढ़ाने वाले होते हैं। भले ही अग्रसर श्रावकों की रुचि, लौकिक-मिथ्यात्व की ओर नहीं हो और वे चालू रूढ़ि का ही रुक्ष-भाव से निर्वाह करते हों, तो भी उनको मिथ्यात्व लगता है और साधारण श्रावक उनका अनुकरण करते हैं, इससे दूसरों के मिथ्यात्व सेवन में वे अनुमोदक बनते हैं। इसलिए इन मिथ्या ढकोसलों का अन्त करना, प्रमुख श्रावकों का कर्त्तव्य है।

विवेक एवं सद्विचार के अभाव में तथा मानसिक दुर्बलता के कारण जैन समाज में लौकिक-मिथ्यात्व का प्रचलन अत्यधिक हो रहा है। यह लौकिक-मिथ्यात्व, अधर्म को धर्म मानने रूप प्रथम मिथ्यात्व का साथी है। इस मिथ्यात्व से जैन समाज शीघ्र मुक्त हो, यही हितकर है।

बालक ने हजारों को छला

लौकिक-मिथ्यात्व के जोर से लोग, कैसे उल्लू बनते हैं, इसका ज्वलंत उदाहरण एक हाल ही की बिलकुल ताजी घटना से मिलता है। 'नव भारत टाइम्स' बंबई के ता० १-७-५८ के अंक में "बालक ने हजारों को बेवकूफ बनाया"-शीर्षक से एक संवाद छपा है। उसका भाव यह है;-

वीजापुर में कुष्ट-रोग से पीड़ित 'बालकृष्ण कुलकर्णी' नामक एक १६ वर्षीय बालक ने लगभग ६० हजार स्त्री पुरुषों को मूर्ख बनाया। 'रुक्मांगद' की समाधि पर ता० १५-६-५८ को बालक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि 'उसके शरीर में किसी दैवी-शक्ति का संचार हुआ है।' वह कूदता फाँदता हुआ यह बता रहा था कि 'उसके हाथ में जो क्रुद्ध सर्प है, वह रुक्मांगद स्वामी का ही अवतार है।'

इस चमत्कार की कहानी बहुत फैली और दस दिन के भीतर हजारों रुपयों का चढ़ावा आगया। आखिर ता० २५-६-५८ को भंडा फोड़ हो गया। बात यह हुई कि वह साँप, एक सपेरे से छः रुपये में लिया था। सपेरे को उसके ६) नहीं मिले, जिससे उसने हजारों लोगों के बीच इस पाखंड को खुला कर दिया। उस समय अन्ध-विश्वासियों की आँखे खुलीं और कुलकर्णी को गालियाँ देते हुए चले गये। पुलिस ने कुलकर्णी को गिरफ्तार कर लिया है। पुलिस का अनुमान है कि यह बालक किसी पक्के गुरु का चेला है।"

हमारा अनुमान है कि उल्लु बनने वाले, उन साठ हजार में, सौ पचास जैनी भी होंगे, जो आँखे मूंद कर, हर किसी

पाखण्ड का शिकार बन जाते हैं। जिसके हृदय में जैनधर्म के प्रति पक्की श्रद्धा हो और समझदारी हो, वह ऐसे लौकिक मिथ्यात्व में पड़कर मूर्ख नहीं बनता।

१७ लोकोत्तर मिथ्यात्व

लौकिक-देव गुरु और धर्म को मानना पूजना, लौकिक मिथ्यात्व है। यह लौकिक देवादि से सम्बन्ध रखता है, त लोकोत्तर मिथ्यात्व, लोकोत्तर देवादि से संबंधित है। लोकोत्त देवादि को लौकिक मानना और लौकिक अभिप्राय से उनक आराधना करना, लोकोत्तर-मिथ्यात्व है। इसके भी देवगत गुरुगत और धर्मगत, ऐसे तीन भेद इस प्रकार हैं।

लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व

जिनमें राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञानादि दोष हों, उ मुक्ति-दाता, तरण-तारण और लोकोत्तर देव मानना, और निर्दो परम-वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, अरिहंत भगवान् को लौकिक दे मानना तथा लौकिक इच्छापूर्ति के लिए उनकी आराधना करना लोकोत्तर देव विषयक मिथ्यात्व है।

देव साक्षी से त्याग प्रत्याख्यान और विरति करना त उचित है, किंतु वीतराग मुक्तिदाता से धन, स्त्री, पुत्र तथा प्रतिष्ठादि संसार-परिभ्रमण कराने वाली इच्छा करना, उनसे माँग करना और इसके लिए स्मरण जाप तथा आराधना करना, अनुचित है। जिनेश्वर की साक्षी से लग्न करना व प्रभु-कृपा

वैवाहिक जीवन सुखमय एवं पुत्रादि संतति लाभ-युक्त मानना योग्य है। जिनेश्वर की साक्षी से मैथुन त्याग अथवा मर्यादा की जा सकती है, किंतु मैथुनी संयोग नहीं मिलाया जाता। परन्तु जिनेश्वर की स्थापना करके, उसके संमुख गर्भाधानादि संस्कार करवाते हैं, यह लोकोत्तर-मिथ्यात्व है।

सर्व त्यागी, परम वीतरागी मोक्ष-प्राप्त जिनेश्वर भगवंतों की आराधना के नाम पर, त्याज्य वस्तुओं का व्यवहार करना, उनके प्रतीक को सांसारिक वेशभूषा से विभूषित कर, लौकिक जैसा बना देना, कही जाने वाली धार्मिक क्रियाओं में उनका आव्हान, विसर्जनादि करना और उनके नाम पर अनेक प्रकार का बढ़चढ़ कर आरंभ करना तथा उनसे शत्रु, रोग, और दरिद्रता मिटाने की प्रार्थना, स्तुति, स्तोत्र और मन्त्रादि से जाप करना, सब लोकोत्तर देवविषयक मिथ्यात्व है।

यद्यपि स्वार्थ-बुद्धि से जिनेश्वर भगवंतों तथा नमस्कार मन्त्रादि की आराधना करना—लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व है, तथापि यह मिथ्यात्व उस दशा में स्वीकार किया गया है जब कि साधक अपने सांसारिक अभाव की पूर्ति के लिए दैविक सहायता चाहता हो, और उसके लिए वह लौकिक मिथ्यात्व में पड़कर जैनत्व से ही दूर चला जाने वाला हो, तो ऐसे साधकों की इच्छा-पूर्ति के लिए आचार्यों ने लोकोत्तर-मिथ्यात्व सेवन करने की विधि भी बताई है, जैसे—

"किसी को स्तंभित करने के लिए पीले वर्ण की माला से नमस्कार मन्त्र का जाप करे, वशीकरण के लिए लाल-वर्ण

की, भयभीत करने के लिए काले रंग की, तथा कर्म-निर्जरा के लिए श्वेत वर्ण की माला से जाप करना चाहिए।"

(योगशास्त्र ८-३१)

"पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के लिए ॐकार युक्त नमस्कार मन्त्र का जाप करना चाहिए।" (८-७१)

अनेक प्रकार के मन्त्र, स्तुति-स्तोत्रादि का निर्माण और प्रचार इसी उद्देश्य से हुआ कि जिससे साधारण जनता, जैनत्व से दूर नहीं चली जाय। उसकी इच्छा पूर्ति के साधन, जैनधर्म में ही उपलब्ध कर दिये गये। इस मिथ्यात्व का सेवन करते हुए भी यदि जनता, जैन-धर्म के सम्पर्क में रहेगी, तो कभी न कभी सच्चा सम्यग्दृष्टि बनने का प्रसंग भी आ सकेगा। जैनत्व से सर्वथा विमुख होने की अपेक्षा यह अच्छा भी है, किंतु स्थिति बिगड़ती गई, मिथ्यात्व बढ़ता गया और सम्यक्त्व लुप्त होता गया। अन्धानुकरण से यह लोकोत्तर मिथ्यात्व, आभिग्रहिक तथा कहीं कहीं आभिनिवेशिक मिथ्यात्व का कारण बन गया। कथित धार्मिक प्रसंगों पर लोकोत्तर देवों के साथ लौकिक देव भी, लौकिक सामग्री तथा लौकिक विधि से पूजे जाने लगे। इस प्रकार लोकोत्तर देव विषयक मिथ्यात्व का प्रसार बहुत हुआ और हो रहा है।

अपनी ही वृद्धि और प्रत्यक्ष को महत्व देने वाला 'सुधारक' नामधारी वर्ग, तीर्थंकर भगवंतों के अतिशय, उनकी सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता और वीतरागता से भी इनकार कर रहा है। कोई उन्हें स्त्रियों और अछूतों का उद्धार करने के लिए विद्रोह करने

वाला वता रहा है, तो कोई जनसेवक तथा कोई कृषि, युद्ध आदि की हिंसा में भी अहिंसा पालन करने के सिद्धांत वाले बता रहा है। यों अनेक प्रकार से लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व का सेवन हो रहा है।

लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व

जो आरंभी परिग्रही हैं, जिनकी प्रवृत्तियाँ सावद्य हैं, जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति एवं निर्ग्रंथाचार के पालक नहीं हैं, उन लौकिक-गुरुओं तथा लौकिक संस्था के नेताओं को धर्म-गुरु मानना, इसी प्रकार लोकोत्तर वेशधारी शिथिलाचारियों, पासत्थों, कुशीलियों, स्वच्छन्दाचारियों, निर्ग्रंथ-धर्म की मर्यादा के बाहर जाकर सावद्य प्रचार करने वालों, विपरीत आचारवालों एवं दुराचारियों को लोकोत्तर-गुरु मानकर वन्दनादि करना भी लोकोत्तर गुरु विषयक मिथ्यात्व है।

जो श्रमणोपासक कहाकर, निर्ग्रंथ साधुओं को मोक्ष-मार्ग से हटाकर, संसार-मार्ग की ओर खिचते हैं, उनसे सावद्य प्रचार करवाते हैं, लोक-नेताओं के सम्पर्क में लाकर उन्हें भी लौकिक वनाने की चेष्ठा करते हैं; उन्हें जन-सेवक कहते हैं, उन्हें दिये जाने वाले आहारादि का भौतिक वदला चाहते हैं और उनके द्वारा अपनी प्रशंसा, संमानादि की इच्छा करते हैं, यह सब लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व है।

लोकोत्तर धर्मगत मिथ्यात्व

जैनधर्म, वास्तव में मुक्ति का मार्ग है। परम-निवृत्ति

और निर्वाण का मार्ग है, किंतु इसका पालन सांसारिक सुखों के लिए करना, संवर और निर्जरा की करणी, बंध के उद्देश्य से करना अर्थात् स्मरण और तप, रोग-निवारण, द्रव्य-प्राप्ति, पुत्र-लाभ आदि कामना से करना, पाले हुए संयम तप अथवा श्रावकपन के उत्तम फल को, निदान करके गँवाना, यह सब धर्मगत-लोकोत्तर-मिथ्यात्व है।

निवृत्ति-प्रधान धर्म को प्रवृत्ति-प्रधान कहना, मोक्ष-मार्गी को संसार-मार्गी बतलाना, लोकोत्तर धर्म को लौकिक मतों की समानता में रखना, अनेकांतवाद का दुरुपयोग करके एकांतवादी मतों से जैनधर्म का समन्वय करना, जैनधर्म का महत्व घटाना, तथा लौकिक धर्मों के साथ गठबन्धन करके समस्त धर्मों का सम्मिलन जोड़ना, यह सब अमृत और विष का मेल मिलाना है।

जिस प्रकार अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु और असली वस्तु में नकली का भेलसंभेल करना, श्रावक के तीसरे व्रत का अतिचार है, उसी प्रकार अनेकांतवाद में एकांतवाद, मुक्तिवाद में बन्धवाद और मोक्ष-मार्ग में संसार मार्ग का मिलाना, मिथ्यात्व है। निरवद्य में सावद्य का संमिश्रण करना और सर्वधर्म-समभावी बनना भी लोकोत्तर-धर्मगत मिथ्यात्व है।

लोकोत्तर-मिथ्यात्व में आजकल एक विषय बहुत बड़ा प्रभावशाली हो गया है। इसके चक्कर से जैनधर्म को विश्व-व्यापक—विश्वधर्म बनाने की, असंभव एवं अशक्य, किंतु मोहक भावना ने, लोकोत्तर-मिथ्यात्व सेवन करने के लिए बहुतों को

प्राकर्षित किया । सारा विश्व, जैनधर्म का उपासक बन जाय, यह तो असंभव है । इसके लिए विश्व के अनुकूल बनने-लौकिक मिथ्यात्व का सेवन करने की आवश्यकता हुई । क्योंकि लोक के अनुकूल बने बिना, लोक व्यापी होना आकाश-कुसुमवत् कोरी कल्पना मात्र ही रहती है । जिस प्रकार सोना, हीरा, मोती आदि मूल्यवान वस्तुएँ, सर्वसाधारण के हाथों में पहुंचने योग्य तभी बनती है, जब कि वे अपना स्थान, अपना मूल्य और अपना महत्व भुलाकर, पीतल या नकली सोना, नकली हीरा और कल्चर मोती बनजाय । यदि सोना अपने आप में विशुद्ध रहे, अपना महत्व नहीं छोड़े, मूल्य नहीं घटावे, तो वह विश्व व्यापक (अरबों मनुष्यों के लिए सुलभ) नहीं हो सकता । आजकल मनिहारों के यहाँ दो दो और चार चार पैसे में हीरे की अंगूठी मिलती है । चार छः आने में सोने के फेंसी-मोहक हार मिलते हैं । इसी प्रकार सच्चे मोतियों को भी शरमावे वैसे मोतियों की मालाएँ कुछ पैसों में ही मिलती है, और इनसे सर्वसाधारण जनता, स्वर्ण, रत्न तथा मुक्ता-मण्डित आभूषणों का आनन्द लेती हुई अपनी इच्छा पूर्ण करती है । इसी प्रकार जैनधर्म भी अपना असली और वास्तविक रूप छोड़कर, अपना निर्वाण मार्ग छोड़कर और असली से नकली बनकर ही विश्व-व्यापक हो सकता है । जहां लौकिक और लोकोत्तर का कोई भेद ही नहीं हो ।

जैनधर्म को विश्व-व्यापक बनाने के लिए, वैसे लोगों को अनेकान्त का बहुत बड़ा सहारा मिल गया है । वे कहते हैं-

"धर्म मानव के बीच का भेद मिटाने में है, ऊँच-नीच के वर्ग नष्ट कर साम्यभाव धारण करने में है। 'हमारा धर्म ऊँचा और दूसरों का धर्म नीचा,' इस प्रकार का भेद ही झगड़े का मूल है'-यों कहते हुए और भगवान् महावीर का नाम आगे करते हुए कहतें हैं कि-'जब धर्म में ऊँच-नीच की भावना व्याप्त हो गई थी, अधिनायकवाद जोर पकड़ चुका था, तब भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद का उपदेश करके-सभी धर्मों का समन्वय करके, सर्वधर्म-समभाव का पाठ पढ़ाया। जैन-धर्म है ही क्या ? एकान्तवाद का विरोधी और अनेकान्तवाद का प्रचारक। मिथ्यादर्शनों के समूह का नाम ही तो जैनधर्म है।"

इस प्रकार अनेक रीति से लोकोत्तर-मिथ्यात्व का सेवन करके, लौकिक-मिथ्यात्व तथा अधर्म को धर्म मानने आदि अनेक प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन कर, मिथ्यात्वी बनते हैं।

१८ कुप्रावचनिक मिथ्यात्व

कुप्रवचन=खोटे प्रवचन=मिथ्या सिद्धांत को अपनाना। निर्ग्रंथ-प्रवचन के अतिरिक्त सग्रंथ वचनों और लौकिक मान्यता पर विश्वास करना, उनका प्रचार करना, उनकी प्रशंसा करना, कुप्रवचन के उत्पादक, प्रचारक ऐसे कुप्रावचनिक को, सद्प्रावचनिक-सद्प्रचारक मानना, यह सब इस मिथ्यात्व में आता है। आचारांग से गीता का समन्वय करने वाले, गीता, बौद्ध-पीटक, गांधी और विनोबा साहित्य तथा ऐसे अन्य शास्त्रों-ग्रंथों-पुस्तकों का श्रद्धापूर्वक पठन करना, कराना तथा वैसे मन्तव्यों का

प्रचार करना, यह सब कुप्रावचनिक-मिथ्यात्व है। श्री उत्तराध्य-यन २३ में लिखा है कि–

"कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे" ॥६३॥

अर्थात्–जिनेश्वर भगवंतों द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग ही उत्तम है। इसके सिवाय जितने भी वचन हैं, वे सब कुप्रा-वचन होकर उन्मार्ग पर ले जाने वाले हैं।

जैनियों को जिन-प्रवचन पर पूर्णरूप से श्रद्धालु बनकर, कुप्रवचनरूप मिथ्यात्व से बचना चाहिए।

१९ न्यून-करण मिथ्यात्व

निर्ग्रंथ-प्रवचन, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, परमवीतरागी जिनेश्वर भगवान् द्वारा उपदिष्ट है। अनन्त-ज्ञानियों के सिद्धांत में कम करना, आगम-पाठों में से मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, शब्द, वाक्य, गाथा, सूत्र आदि निकाल देना–कम कर देना, सिद्धांत की प्ररूपणा में, अपने प्रतिकूल पड़ने वाले अंश को छोड़ देना, शरीर-व्यापी आत्मा को अंगुष्ठ-प्रमाण मानना आदि इस भेद में है। तात्पर्य यह कि जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित सिद्धांत से कुछ भी कम मानना, इसी प्रकार प्ररूपणा तथा फरसना में कमी करना, न्यूनकरण-मिथ्यात्व है।

अपनी कमजोरी से कम पले, तो इसे अपना दोष मानना, लेकिन वस्तु स्वरूप की मान्यता तथा प्ररूपणा में कमी नहीं

करना, यह सम्यक्त्व शुद्धि के लिए आवश्यक है।

२० अधिक-करण मिथ्यात्व

जिस प्रकार न्यून-करण मिथ्यात्व है, उसी प्रकार अधिक-करण भी मिथ्यात्व है। आगम पाठों में मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, शब्द, वाक्य, गाथा, सूत्र आदि बढ़ा देना, सैद्धांतिक मर्यादा का अतिक्रमण करना, वस्त्र के सद्भाव में, तथा स्त्री-पर्याय में साधुता तथा मुक्ति का सर्वथा अभाव मानना, इत्यादि प्रकार से निर्ग्रंथ-प्रवचन की मर्यादा से अधिक प्ररूपणादि करना, अधिक-करण मिथ्यात्व है।

२१ विपरीत मिथ्यात्व

निर्ग्रंथ-प्रवचन से विपरीत प्रचार करना, सावद्य एवं संसारलक्षी प्रवृत्ति करना, या उसका प्रचार करना, तथा सावद्य-प्रवृत्ति में धर्म मानना, विपरीत मिथ्यात्व है। पुण्य पाप और आश्रव, शुभाशुभ बन्ध रूप है, इन्हें संवर निर्जरा रूप मानना, तथा बन्ध के कारण को मोक्ष का कारण बताना, विपरीत मिथ्यात्व है। एकांत निश्चय का अवलंबन कर व्यवहार का लोप करना, अथवा व्यवहार को ही पकड़ कर, निश्चय का अप-लाप करना, अनुकम्पा में और अनुकम्पादान में एकांत पाप की स्थापना कर, पुण्य का निषेध करना, अरिहंत भगवान् मोक्ष-मार्ग के प्रवर्त्तक होते हैं, उन्हें संसार मार्ग के नेता कहना, इत्यादि जितनी भी विपरीतता है, वह सभी मिथ्यात्व रूप है। यह

रीतता चाहे देश रूप में हो या सर्वरूप में, थोड़ी हो या बहुत, सम्यक्त्व के लिये बाधक होती है। वैसे जितने भी मिथ्यात्व हैं, वे सभी विपरीत–प्रतिकूल ही है। धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म इत्यादि सभी प्रकार के मिथ्यात्व, विपरीतता से ही निष्पन्न होते हैं। इसलिए प्रतिकूलता मात्र विपरीत-मिथ्यात्व है। इसमें सभी प्रकार के मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है। जमाली, थोड़ी-सी विपरीतता के कारण मिथ्यात्वी हुआ और 'निन्हव' कहलाया। किंचित् विपरीतता भी महामिथ्यात्व का कारण बनती है। जिसने जिन-प्रवचन से थोड़ी भी विपरीतता की, तत्त्वों में मनमाना फेर कर दिया, उसने जिनेश्वर से असहमति बता कर, सुदेव से ही इन्कार किया। जमाली की ऊपर से किंचित् दिखाई देने वाली विपरीतता, मूल में और परिणाम में मिथ्यात्व का कारण बन गई। इसलिए सम्यक्त्व को विशुद्ध रखने के लिए निर्ग्रंथ-प्रवचन के पूर्णरूप से अनुकूल रहना चाहिए।

२२ अक्रिया मिथ्यात्व

क्रिया का निषेध करना, संसारी आत्मा को अक्रिय मानना, तथा आत्म-शुद्धि की क्रिया को नहीं मानना–'अक्रिया' नामक मिथ्यात्व है।

अक्रियावादी मानता है कि "आत्मा अक्रिय–हलन चलन स्पन्दनादि क्रिया से रहित और स्थिर है। वह अपने ज्ञान-भाव–उपयोग में ही रहता है। क्रिया करना आत्मा का धर्म नहीं है। क्रिया, जड़ में होती है और जड़-कर्म को उत्पन्न करती

है। इसलिए क्रिया की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। आत्मा, ज्ञाता एवं दृष्टा ही है, वह कर्त्ता नहीं है। यदि वह कर्त्ता है, तो अपने ज्ञान-भाव का ही कर्त्ता है, शारीरिक जड़-क्रिया का नहीं।" इस प्रकार आत्मा को एकान्त रूप से अक्रिय मान करके, वे आत्म-विशुद्धि करने वाली उत्तम क्रिया का निषेध करते हैं।

कोई एकान्तवादी, जैन कहाते हुए भी आत्मा के लिए हितकारी ऐसी पुण्य, संवर, निर्जरा की आत्मलक्षी क्रिया का निषेध करते हैं, और कहते हैं कि 'आत्मा-जड़क्रिया का कर्त्ता नहीं है। आत्मा को कर्त्ता मानना महान् भूल है=भयंकर पाप है, हजारों गायों या मनुष्यों को मारने के पाप से भी बढ़कर पाप है।' इस प्रकार क्रिया का खण्डन करने वाले, इस मिथ्यात्व के अधिकारी हैं। ये आत्मवादी कहलाते हुए भी इनका एकान्त अक्रियावाद, इन्हें मिथ्यात्व में धकेल रहा है। जिस प्रकार ज्ञानवादी, मात्र ज्ञान का ही आग्रह करके क्रिया का निषेध करते हैं, उसी प्रकार ये एकान्त अक्रियावादी भी हैं। ये स्वतः खाने, पीने, सोने, चलने, बोलने आदि क्रिया करते हैं, किंतु मुंह से कहते यही हैं कि–'ये क्रियाएँ जड़ करता है, चैतन्य नहीं करता। जड़ से संबंधित चैतन्य और उसके कारण आत्मा में भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख और अनुकूल प्रतिकूल का संवेदन करते हुए भी जो क्रिया का निषेध करते हैं, वे अपनी माता को वंध्या कहने के समान भूल करते हैं, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष है कि आत्म-शून्य निर्जीव शरीर ही इन क्रियाओं को नहीं

करता। शरीर से सम्बन्धित आत्मा, वैभाविक दशा में रहा हुआ है। उस पर उदय-भाव का असर रहता है। इस उदय-भाव के अनुसार वह विभिन्न संयोगों और परिणामों का संवेदन करता हुआ, परिणाम के अनुसार कर्त्ता बनता है, इसलिए वह सक्रिय है। स्थानांगसूत्र १० तथा प्रज्ञापना १३ में दस प्रकार का 'जीव परिणाम' बताया है। यथा—

१ गति परिणाम—गमन करना, एक गति से दूसरी गति में जाना।

२ इंद्रिय परिणाम—श्रोत आदि इंद्रिय का धारण करना।

३ कषाय परिणाम—क्रोधादि कषाय युक्त रहना।

४ लेश्या परिणाम—कृष्णादि लेश्या सहित।

५ योग परिणाम—मन वचन और काय योग युक्त।

६ उपयोग परिणाम—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग युक्त।

७ ज्ञान परिणाम—सम्यग्ज्ञान या अज्ञान युक्त होना।

८ दर्शन परिणाम—सम्यग्, मिथ्या या मिश्र-दर्शन युक्त होना।

९ चारित्र परिणाम—देश चारित्र या सर्व चारित्र युक्त अथवा सामायिकादि चारित्र युक्त होना।

१० वेद परिणाम—पुरुषादि वेद युक्त होना।

संसारी जीवों के ये दस परिणाम हैं। जो मुक्ति प्राप्त (असंसारी हो चुके हैं, उनके—१ उपयोग, २ ज्ञान और ३ दर्शन परिणाम होता है, गति, इन्द्रिय आदि ७ परिणाम उनमें नहीं

होते। आत्मा की निज एवं स्वाभाविक दशा तो इसी प्रकार की है, किन्तु पर-परिणति के कारण जो विभाव दशा, संसारी जीवों में न्यूनाधिक रूप से है, वह भी एकान्त अजीव परिणाम तो नहीं है। उसमें जीव की विभाव-परिणति मूल कारण रूप है ही। संसारी जीवों के साथ जो शरीरादि का संयोग संबंध है, वह एकांत अजीव परिणति नहीं है। भगवती ८-१ में 'प्रयोग-परिणत' पुद्गल का निरूपण है। वह जीव के 'प्रयोग से शरीरादि रूप में परिणत हुए हैं। यह भी सिद्धांत है कि 'जीव को पुद्गल का संबंध होता है वह स्वाभाविक नहीं, किंतु प्रयोग से है' (भग० श० ६-३ तथा १-६) अतएव वैसे पुद्गल के परिणाम में जीव का प्रयोग नहीं मानना भी भूल है, एवं एकांतवाद के कारण मिथ्या है।

अजीव के निम्न दस परिणाम उसके स्वतन्त्र हैं। जैसे-

१ बंध परिणाम-मिलना, द्व्यणुकादि रूप से संबंधित होना और बिछुड़ना।

२ गति परिणाम-पुद्गल का एक स्थान से दूसरे स्थान जाना।

३ संठाण परिणाम-आकृति धारण करना।

४ भेद परिणाम-टुकड़े होना, स्कन्ध से देश आदि होना।

५ वर्ण परिणाम-काला आदि रंग युक्त होना।

६ गन्ध परिणाम-सुगन्धादि युक्त होना।

७ रस परिणाम-तिक्तादि रस वाला होना।

८ स्पर्श परिणाम-कर्कशादि स्पर्श होना।

९ अगुरुलघु परिणाम—वजन में न अधिक भारी और न अधिक हलका। इस भेद में गुरुलघु परिणाम का भी समावेश होता है।

१० शब्द परिणाम—ध्वनि के रूप में परिणत होना।

यह अजीव परिणाम, केवल पुद्गल द्रव्य का ही है, धर्मास्तिकायादि अरूपी अजीव का नहीं है, फिर भी ये सभी संसारी जीव में पाये जाते हैं, क्योंकि अजीव से सम्बन्धित जीव भी गति करता है, कर्म से बन्धता है, आकृति युक्त है, शरीर व कर्मों का भेद भी होता है, वर्णगन्धादि सभी परिणामों से युक्त है। इसका कारण यह नहीं कि अजीव, अपने आप, जीव से संबंधित हो गया। इसका कारण यह कि जीव—संसारी जीव ने यह संबंध स्वीकार किया है। यदि जीव, अजीव को नहीं अपनाता, तो वह व्यवहारी-संसारी रहता ही नहीं, अपितु सिद्ध हो जाता। श्रीभगवती २५, २ में लिखा है कि—"अजीव-द्रव्य, जीव-द्रव्य के परिभोग में आता है, लेकिन जीव, अजीव के परिभोग में नहीं आता।" इसका मतलब यही है कि अजीव अपनेआप (—बिना जीव की प्रेरणा अथवा प्रयोग के) जीव के नहीं लग जाता। वह जीव के क्रिया करने पर ही, जीव से संबंधित हुआ, अर्थात् जीव के प्रयोग (क्रिया) से जीव का अजीव के साथ सम्बन्ध हुआ। जब क्रिया के कारण जीव अजीव का सम्बन्ध और चतुर्गति भ्रमण सिद्ध है, तब इस सम्बन्ध का विच्छेद कराने वाली संवरादि धर्म की क्रिया भी सिद्ध है। फिर अक्रियावाद—क्रिया का निषेध क्यों किया जाता है?

एकांत निश्चयवाद भी मिथ्या है और एकांत व्यवहार-वाद भी मिथ्या है। परम विशुद्ध सिद्धात्मा ही निश्चय स्वरूप है और वही अक्रिय-निष्कम्प एवं स्थिर हैं। उस अवस्था के पूर्व शैलेशीकरण के अतिरिक्त आत्मा कम्पनशील रहता है। यह सकम्प अवस्था, क्रिया से सर्वथा वंचित नहीं है। जब तक शरीर संबंध है, तब तक क्रिया होती है, इसलिये संसारी आत्मा को अक्रिय मानना मिथ्या है। निश्चय का सिद्धांत, निश्चय दशा सम्पन्न सिद्धात्मा पर ही पूर्ण रूप से घटित होता है, संसार व्यवहार (शरीर इन्द्रिय आदि) युक्त जीव पर पूर्ण घटित नहीं होता। संसारी जीवों के लिये अक्रियावाद का सिद्धांत अहितकर होता है। इससे वे आत्म-शुद्धि जन्य क्रिया से वंचित रह जाते हैं और कर्म-बन्धन ही बढ़ाते रहते हैं। व्यवहार स्थित आत्मा के लिये निश्चय के ध्येय सहित व्यवहार धर्म ही उपकारी है। इसका निषेध करना मिथ्यात्व है।

अजैन विचारधारा में अक्रियावादी अनेक मत हैं। उनमें अद्वैतवादी भी हैं। वे विश्वभर में केवल एक ही आत्मा मानते हैं। उनका कहना है कि—"जिस प्रकार पानी से भरे हुए हजारों लाखों घड़ों में एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है और वह सब में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में आत्मा भी केवल एक ही है। पृथ्वी, जल, तेज आदि महाभूत तथा सारा संसार एक आत्मा के ही विभिन्न रूप है और यह सारा विस्तार भी उसी का है। हमें जो भिन्नता और विविधता दिखाई देती है, वह भ्रम ही है। जिस प्रकार अन्धेरे

में पड़ी हुई रस्सी, सर्प मालूम देती है, उसी प्रकार भ्रम से एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न भौतिक पदार्थों के रूप में भासित होती है। वास्तव में यह भ्रम ही संसार है और भ्रम दूर होना ही मुक्ति है।"

इस प्रकार आत्माद्वैतवादी या ब्रह्माद्वैतवादी, अपने माने हुए भ्रम से मुक्त होना ही मोक्ष मानते हैं। उनके मत में क्रिया-सदनुष्ठान का कोई प्रयोजन नहीं है। जब वे भिन्न आत्मा और उनके कर्म ही नहीं मानते, तो क्रिया कब मानेंगे? इस प्रकार वे स्वतः अनेक प्रकार की क्रिया करते हुए भी आत्मा को अक्रिय मानते हैं।

जैनदर्शन का उपरोक्त मत से, मूल में ही भेद है, क्योंकि जैनसिद्धांत विश्व में अनन्त आत्माओं का अस्तित्व स्वीकार करता है। उन सभी आत्माओं का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। परिणति सब की भिन्न-भिन्न है। यदि सभी शरीरों में एक ही आत्मा होती, तो उनकी परिणति भी एक ही प्रकार की होती, सुखी, दुखी, धर्मात्मा, पापी, रोगी, नीरोग, छोटा, बड़ा, सम्पन्न, विपन्न, मनुष्य, पशु, पक्षी, त्रस, स्थावर, देव, नारक आदि भेद क्यों रहते? यदि विश्व में मात्र एक ही आत्मा है और सारे संसार में सर्वत्र उसीका निवास है, तो सब की परिणति, अनुभव, कार्य और फल एक समान ही होते। एक सुखी तो सब सुखी और एक दुखी तो सब दुखी, एक भूखा तो सभी भूखे और एक प्यासा तो सभी प्यासे। गति, स्थिति, लेश्या, अध्यवसाय आदि की भिन्नता होनी ही नहीं चाहिए थी। एक मरता

है, दूसरा जन्मता है, यह भेद नहीं रहना था। वास्तव मे एकात्मवाद का सिद्धांत—अद्वैतवाद के रूप में सही नहीं है अपनी आत्मा के समान दूसरों की आत्मा को मानकर किसी को सताना नहीं, अथवा आत्म-गुणों की अपेक्षा सब में समानत मानना—एक बात है और एक आत्मा के सिवाय अन्य आत्म का अस्तित्व ही नहीं मानना—दूसरी बात है और यह सत्य नहीं है।

सभी जीव अपने पूर्व-कृत शुभाशुभ कर्म के अनुसार फल पाते हैं। संसारी जीव, कर्म का कर्त्ता और भोक्ता भी है औ कर्म नष्ट करने के उपाय भी है। कर्म नष्ट करने के उपाय संवर, निर्जरा को नहीं मानना—अक्रिया-मिथ्यात्व है।

आत्माद्वैतवादी की तरह शब्दाद्वैतवादी आदि मत भी अक्रियावाद के पोषक हैं।

कोई अक्रियावादी यह भी कहते हैं—क्रिया की आवश्यकता ही क्या है, केवल चित्त की पवित्रता होनी चाहिये। इस प्रकार एकान्तवाद को ही पकड़ कर क्रिया का निषेध करने वाले भी इस मिथ्यात्व के पात्र हैं।

कोई अक्रियावादी यह भी मान्यता रखते हैं कि—'समस्त पदार्थ अस्थिर हैं, आत्मा भी अस्थिर है, इसलिये अस्थिर में क्रिया नहीं होती।' कोई कहते हैं कि—'आत्मा निराकार और सर्व-व्यापक है। निराकार वस्तु क्रियाशील नहीं होती, जो क्रिया दिखाई देती है, वह माया है, वह निराकार आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकती'—यों अनेक प्रकार की विचारधाराएँ अपने

गती अपेक्षा से क्रिया का निषेध करती है।

भोग-प्रधान सिद्धांतवादी लोगों का मानना है कि संसार ां सुख से ही रहना चाहिये। सुख ही से सुख की प्राप्ति होती ै। जो तपस्यादि दुःख से आत्मा को दुखी करते हैं, उन्हें सुख ी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। जिस प्रकार बबूल के पेड़ । आम का फल नहीं मिलता, उसी प्रकार व्रत-नियम और प कर के आत्मा को क्लेशित करने से (उस क्लेश में से) सुख ी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये खूब खाना पीना और ौज करना चाहिये।

उपरोक्त कथन मिथ्या है। हम संसार में भी प्रत्यक्ष खते हैं कि जो स्वच्छंद भोग के लिये व्यभिचार करते हैं, वे रते तो हैं–इच्छा पूर्ति=सुख के लिये, लेकिन संसार में धिक्कार ा पात्र और राज्य से दण्डित होते हैं। जो सुख के लिये धन ाप्त करने में चोरी या ठगी का आश्रय लेते हैं, वे भी अप- ाधी माने जाकर दण्ड के पात्र होते हैं। स्वाद-सुख में लीन ोकर अधिक खाने से अजीर्णादि रोग हो जाते हैं। एक एक न्द्रिय के सुख में गृद्ध हो जाने वाले जीव, अकाल-मृत्यु प्राप्त रते देखे जाते हैं, इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि भौतिक ुख, सुख का नहीं किंतु दुःख का ही कारण होता है और म्यग्दृष्टि युक्त इन्द्रिय-दमनादि तप, आत्मिक सुख का कारण नता है।

सौख्यवादियों के मतानुसार, व्रत नियम और तप करने ाले अपनी आत्मा को क्लेशित करके अधोगति के पात्र बनते

होंगे और जो अधिक भोगी हैं, वे अधिक ऊँची गति को प्राप्त होते होंगे। इनकी दृष्टि में आत्मा कोई वस्तु ही नहीं है। यदि ये आत्मवादी होते और उन्हें आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता, तो भौतिक एवं नाशवान सुखों पर ही अपने सिद्धांत को केन्द्रित नहीं करते। इस प्रकार सौख्यवादी भी अक्रिया मिथ्यात्व के स्वामी हैं। चार्वाक मत का समावेश इसमें होता है।

नियतिवादी भी क्रिया के उत्थापक हैं। उसका पूरा आधार नियति–भावीभाव (अथवा होनहार) पर है। उनका सिद्धांत है कि–"संसार में जो कुछ भी होता है, वह सब नियति से ही होता है, क्रिया–पुरुषार्थ से कुछ भी नहीं हो सकता।" स्वयं रोटी खा कर भूख की निवृत्ति और पानी पी कर प्यास की निवृत्ति करते हैं और सभी तरह की सांसारिक क्रिया करते हुए और उसका फल पाते हुए भी वे क्रिया से इन्कार करते हैं। ये भी अक्रियावादी हैं। इसी प्रकार कालवादी, स्वभाववादी भी अपने अपने वाद को पकड़कर–एकांतवाद का आश्रय लेकर, क्रिया का निषेध करते हैं।

जैन कुल में जन्मे हुए किंतु धार्मिक श्रद्धा से शून्य ऐसे कई लोग, धार्मिक अनुष्ठान करने वालों को "क्रिया-जड़" कहकर उपहास करते हैं। यह भी उनका मिथ्यात्व है।

'अक्रिया मिथ्यात्व' में अक्रियावादियों के ८४ भेदों का समावेश होता है। ये ८४ भेद इस प्रकार हैं।

जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों के 'स्व' और 'पर' के भेद से १४ भेद हुए।

इनके काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा, इन छः से गुणन करने पर कुल ८४ भेद हुए। जैसे—'जीव स्वतः काल से नहीं है, परतः काल से नहीं है। इसी प्रकार यदृच्छा आदि छह भेद से स्वतः परतः गिनने पर १२ भेद हुए। इन बारह का सात तत्त्वों से गुणन करने पर ८४ भेद हुए।

सम्यग्दृष्टि जीवों को इस मिथ्यात्व से बचना चाहिए।

२२ अज्ञान मिथ्यात्व

संसार में कोई ज्ञानवादी हैं, वे ज्ञान को ही एकांत पकड़कर क्रिया का निषेध करते हैं, तो कोई अज्ञानवादी भी हैं। इनका सिद्धांत है कि 'जीवादि पदार्थों को जानने की आवश्यकता ही क्या है?' अतीन्द्रिय पदार्थों में सत्य क्या और असत्य क्या है? परोक्ष वस्तु को जानने वाला संसार में कोई भी नहीं है। यदि ये वस्तुएँ हैं भी, तो जो जानते हैं उन्हीं को अधिक दोष लगता है, जो जानता ही नहीं है, तो उसको अनजानपने के कारण कम दोष लगता है। इसलिए जीवादि तत्त्वों को जानना व्यर्थ है।' इस प्रकार अज्ञानवादी का मत है।

कई जैनी कहे जाने वाले, ज्ञानाध्ययन को स्वीकार करते हुए भी अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में अश्रद्धालु बन गये हैं। उन्हें अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के विषय में श्रद्धा ही नहीं है। केवलज्ञान के विरुद्ध तो जाहिर में विचार भी व्यक्त हुए हैं। किसी तार्किक विद्वान का कहना है कि—'केवलज्ञानी अनन्त वस्तुओं को जानते हैं, किंतु उनके ज्ञान के बाहर

अनन्त वस्तुएँ ऐसी रह जाती हैं–जिन्हें वे नहीं जानते।' इस प्रकार ज्ञान के अस्तित्व एवं शक्ति से इन्कार करना, उसकी मनमानी व्याख्या करना, ये सब प्रकारान्तर से अज्ञान-मिथ्यात्व में सम्मिलित हो जाते हैं।

कई भोले भाई, ज्ञान की अवहेलना करते हुए कहते हैं कि 'जीव के भेद, धर्मास्तिकाय, कर्म-प्रकृति, आदि पढ़कर मस्तिष्क खपाने की क्या आवश्यकता है? इनसे न तो पेट भरता है (आजीविका चलती है) और न उद्धार ही होता है। देश को भी इससे कोई लाभ नहीं होता। इसलिए ऐसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। आत्मा का हित सदाचार संयम आदि से होगा, जीवादि तत्त्वों को जानने से नहीं,"–इस प्रकार कह कर अज्ञानवादी की पंक्ति में बैठते हैं। यह उनकी भूल है। इस प्रकार के विचार, धर्म के एक मूल अंग को ही उखाड़ने वाले हैं। मोक्ष के चार अंगों में ज्ञान-साधना–ज्ञानाचार, प्रथम अंग है। इसकी आराधना यथा-शक्ति होनी चाहिये।

ज्ञान की अवहेलना करने वाले अज्ञानी के व्रतादि भी निर्जरा के कारण नहीं होते। संसार में भी लौकिक ज्ञान वाले का आदर होता है, तो धर्म में अज्ञान को स्थान कैसे मिल सकता है? लौकिक ज्ञान तो संसार बढ़ाने वाला और कर्म-बन्धनों से विशेष भारी करने वाला है। वह यदि हितकारी है, तो थोड़े दिनों तक ही। यदि उदय की अनुकूलता हो, तो इस जीवन में भौतिक अनुकूलता दे सकता है, किंतु बाद में वह जीव के लिए दुःखदायक होता है। अतएव सम्यग्ज्ञान–

आत्मिक शाश्वत सुख देने वाले ज्ञान के अभ्यास की खास आवश्यकता है।

हमारे कितने ही भोले भाई लौकिक ज्ञान प्रचार को भी धर्म मानते हैं, किंतु यह उनकी भूल है। लौकिक ज्ञान, गृहस्थ जीवन के लिए (आरंभ-समारम्भमय सावद्य जीवन के लिए) उपयोगी हो सकता है, इसलिए उसे सांसारिक दृष्टि से उपयोगी कह सकते हैं, धार्मिक दृष्टि से नहीं।

आत्मलक्षी सम्यग्ज्ञान ही धर्म से संबंधित है, इसलिए लौकिक ज्ञान (–कुज्ञान–अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान नहीं मान लेना चाहिए। अज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहना भी मिथ्यात्व है। यह अज्ञान–मिथ्यात्व जहां होता है, वहां न तो सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यग्चारित्र ही होता है।

शास्त्रों में अज्ञानवादी के ६७ भेद इस प्रकार बताये हैं।

नो तत्त्वों को सप्तभंगी से गुणन करने पर ६३ भेद हुए, और उत्पत्ति के–१ सद् २ असद् ३ सदसद् तथा ४ अवक्तव्य, ये चार मिलाने से कुल ६७ भेद हुए। जैसे कि 'कौन जानता है कि जीव का अस्तित्व है, और इसके जानने से लाभ ही क्या है?' इस प्रकार अस्ति, नास्ति, आदि सात भंग सभी तत्त्वों पर उतारना चाहिए।

२४ अविनय मिथ्यात्व

देव, गुरु, गुणाधिक एवं धर्म का आदर सत्कार नहीं करना–अविनय-मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व, गुण और गुणीजनों के

अनन्त वस्तुएँ ऐसी रह जाती हैं—जिन्हें वे नहीं जानते।' इस प्रकार ज्ञान के अस्तित्व एवं शक्ति से इन्कार करना, उसकी मनमानी व्याख्या करना, ये सब प्रकारान्तर से अज्ञान-मिथ्यात्व में सम्मिलित हो जाते हैं।

कई भोले भाई, ज्ञान की अवहेलना करते हुए कहते हैं कि 'जीव के भेद, धर्मास्तिकाय, कर्म-प्रकृति, आदि पढ़कर मस्तिष्क खपाने की क्या आवश्यकता है? इनसे न तो पेट भरता है (आजीविका चलती है) और न उद्धार ही होता है। देश को भी इससे कोई लाभ नहीं होता। इसलिए ऐसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। आत्मा का हित सदाचार संयम आदि से होगा, जीवादि तत्त्वों को जानने से नहीं,"—इस प्रकार कहकर अज्ञानवादी की पंक्ति में बैठते हैं। यह उनकी भूल है। इस प्रकार के विचार, धर्म के एक मूल अंग को ही उखाड़ने वाले हैं। मोक्ष के चार अंगों में ज्ञान-साधना—ज्ञानाचार, प्रथम अंग है। इसकी आराधना यथा-शक्ति होनी चाहिये।

ज्ञान की अवहेलना करने वाले अज्ञानी के व्रतादि भी निर्जरा के कारण नहीं होते। संसार में भी लौकिक ज्ञान वाले का आदर होता है, तो धर्म में अज्ञान को स्थान कैसे मिल सकता है? लौकिक ज्ञान तो संसार बढ़ाने वाला और कर्म-बन्धनों से विशेष भारी करने वाला है। वह यदि हितकारी है, तो थोड़े दिनों तक ही। यदि उदय की अनुकूलता हो, तो इस जीवन में भौतिक अनुकूलता दे सकता है, किंतु बाद में वह जीव के लिए दुःखदायक होता है। अतएव सम्यग्ज्ञान—

आत्मिक शाश्वत सुख देने वाले ज्ञान के अभ्यास की खास आवश्यकता है।

हमारे कितने ही भोले भाई लौकिक ज्ञान प्रचार को भी धर्म मानते हैं, किंतु यह उनकी भूल है। लौकिक ज्ञान, गृहस्थ जीवन के लिए (आरंभ-समारम्भमय सावद्य जीवन के लिए) उपयोगी हो सकता है, इसलिए उसे सांसारिक दृष्टि से उपयोगी कह सकते हैं, धार्मिक दृष्टि से नहीं।

आत्मलक्षी सम्यग्ज्ञान ही धर्म से संबंधित है, इसलिए लौकिक ज्ञान (-कुज्ञान-अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान नहीं मान लेना चाहिए। अज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहना भी मिथ्यात्व है। यह अज्ञान-मिथ्यात्व जहां होता है, वहां न तो सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यग्चारित्र ही होता है।

शास्त्रों में अज्ञानवादी के ६७ भेद इस प्रकार बताये हैं।

नौ तत्त्वों को सप्तभंगी से गुणन करने पर ६३ भेद हुए, और उत्पत्ति के-१ सद् २ असद् ३ सदसद् तथा ४ अवक्तव्य, ये चार मिलाने से कुल ६७ भेद हुए। जैसे कि 'कौन जानता है कि जीव का अस्तित्व है, और इसके जानने से लाभ ही क्या है ?' इस प्रकार अस्ति, नास्ति, आदि सात भंग सभी तत्त्वों पर उतारना चाहिए।

२४ अविनय मिथ्यात्व

देव, गुरु, गुणाधिक एवं धर्म का आदर सत्कार नहीं करना-अविनय-मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व, गुण और गुणीजनों के

प्रति अश्रद्धा होने पर उत्पन्न होती है। अश्रद्धा होने से ही अविनय होता है, इसलिए अविनय भी मिथ्यात्व है।

यदि अनजान में गुरु आदि का आदर नहीं हो सके या शारीरिक अत्यन्त अशक्तता के कारण आदर नहीं दिया जा सके, तो वह मिथ्यात्व नहीं है। क्योंकि वहां भावों में विपरीतता नहीं है, तथा इसके लिए मन में खेद भी है। किंतु जहां मन में अविनय के भाव उत्पन्न होता है, वहीं यह मिथ्यात्व उपस्थित रहता है।

२५ आशातना मिथ्यात्व

अविनय की तरह आशातना भी मिथ्यात्व है। आशातना का अर्थ है—विपरीत होना, प्रतिकूल व्यवहार करना, विरोधी हो जाना, निन्दा करना। देवादि तथा तत्त्व का अपलाप करना, यह सब आशातना मिथ्यात्व है। आशातना बुरे भावों से ही होती है, अतएव यह मिथ्यात्व है। आशातना के दो प्रकार से तेतीस भेद शास्त्रों में बताये हैं।

मिथ्याश्रुत का पठन-पाठन

सम्यक्त्व के लिए खतरे के स्थानों में "पर पाखण्ड संस्तव" है। इसका उल्लेख पहले पृ० ८४ पर हो चुका है। इसमें अन्यमत के देव, गुरु, धर्म, शास्त्र, और मतावलम्बी का समावेश होता है। जिस प्रकार अन्य विचारधारा के उपाश्य का परिचय, सम्यक्त्व की रक्षा के लिए वर्जनीय है, उसी प्रकार मिथ्याश्रुत—परपाखण्ड-प्रचारक साहित्य भी वर्जनीय है। जिने-

श्वर के अतिरिक्त उपास्य का त्याग तो कर दिया, किंतु उनके विचारों-सिद्धांतों के प्रतिपादक साहित्य का त्याग नहीं किया, तो मिथ्यात्व के प्रवेश का खतरा खुला ही है। जिस प्रकार पक्षी के छोटे बच्चों के लिए कौआ, वाज आदि घातक-प्राणी खतरनाक होते हैं, उसी प्रकार जिनका सम्यक्त्व क्षायिक नहीं है और विशिष्ट प्रकार का क्षायोपशमिक भी नहीं है, उनके लिए मिथ्याश्रुत का पठन-पाठन घातक सिद्ध होता है। हमारे कई अदूरदर्शी लोग कहा करते हैं–"अजैन साहित्य पढ़ने में हर्ज ही क्या है? जब हम सम्यग्दृष्टि हैं, तो अजैन, साहित्य हमारे लिए सम्यग्रूप से ही परिणत होगा, असम्यग् रूप से नहीं होगा-ऐसा नन्दी सूत्र में लिखा है, इसलिए अजैन साहित्य को भी पढ़ना ही चाहिए।" इस प्रकार कहने वाले गंभीर विचार नहीं करते, या यों कहना चाहिए कि जानते हुए भी अनजान बनकर, अपनी कुश्रद्धा से भद्रिक जीवों को भ्रम में डालते हैं। वे यह नहीं सोचते कि सामान्य सम्यक्त्वी के लिए जिस प्रकार 'पर-पाखंड परिचय' खतरनाक होकर मिथ्यात्व में ले जाने वाला होता है, इसलिए उसका त्याग सम्यक्त्वी के लिए हितकर बतलाया है, उसी प्रकार मिथ्याश्रुत का त्याग भी हितकर है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का परिचय और स्त्री-कथा वर्जनीय है, उसी प्रकार सम्यक्त्वी के लिए मिथ्याश्रुत वर्जनीय होता है। जो सम्यक्त्वी, दृढ़ श्रद्धालु होता है, जिसने जिनागमों का गंभीर ज्ञान प्राप्त किया है,–ऐसा व्यक्ति यदि मिथ्याश्रुत देखता है, तो उससे उसकी श्रद्धान विशेष रूप से दृढ़ होती

है। वह सोचता है कि 'कहां वीतराग वाणी और कहां सरागी जीवों के रागद्वेष वर्द्धक, स्वार्थ साधक, पौद्गलिक आकांक्षाओं से भरे हुए उद्गार ? कहां त्याग-मार्ग और कहां भोग-मार्ग, कहां संसार-मार्ग और कहां मोक्ष-मार्ग, कहां अल्पज्ञों के सिद्धांत और कहां सर्वज्ञ भगवंत के परम सत्य एवम् परम उत्कृष्ट सिद्धांत ?' इस प्रकार मिथ्या प्रवचनों को हेय मानता हुआ वह अपने सम्यक्त्व में विशेष दृढ़ होता है। इस प्रकार वह मिथ्याश्रुत सम्यग्दृष्टियों के लिए सम्यग्रूप परिणमता है, किंतु असल में है, तो वह मिथ्याश्रुत ही।

जिस प्रकार अमृत और विष, इन दोनों में महान् अन्तर है, एक है तारक, तो दूसरा है मारक। उसी प्रकार सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत में भी महान् अन्तर है। सम्यक्श्रुत उद्धारक है, तो मिथ्याश्रुत डुबानें वाला है। साधारणतया विष त्याज्य है, उसी प्रकार मिथ्यात्व भी त्याज्य है।

जिस प्रकार विशेष योग्यता वाला निष्णात वैद्य अथवा डाक्टर, विष के प्रकोप का शमन करने के लिए, विशेष प्रकार के विष का प्रयोग करके रोग-मुक्त कर देता है, उसी प्रकार सम्यग् परिणति वाला अधिकारी विद्वान, मिथ्यात्व रूपी रोग के—विशेष रूप से रोगी के रोग को छुड़ाने के लिए, मिथ्याश्रुत का प्रयोग कर, मिथ्यात्व मुक्त करता है अर्थात् अजैन को अजैन (उसी के मान्य) शास्त्र से समझाकर और फिर सम्यग्श्रुत की विशेषता बतलाकर सम्यग्दृष्टि करता है, यह उस अधिकारी विद्वान् की विशेषता है, किन्तु मिथ्याश्रुत की विशेषता नहीं है।

मिथ्याश्रुत तो अपनेआप में मिथ्याश्रुत ही है। श्री नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र में जिन आचारांगादि श्रुत को सम्यग्श्रुत बतलाया है, वही सम्यग् श्रुत है, शेष सब मिथ्याश्रुत है। उसका पठन-पाठन वर्जनीय ही है।

जिस प्रकार कोई विशेष प्रकार का रोगी, विष प्रयोग से नीरोग हो जाय, तो भी विष, अमृत नहीं माना जाता। वह विष ही रहेगा, उसी प्रकार मिथ्याश्रुत के विषय में भी समझना चाहिए।

किसी शास्त्र में लिखा हो कि—"न तो मांस भक्षण में दोष है, न सुरापान में और न मैथुन सेवन में ही दोष है। पुत्रेच्छा से मैथुन करना चाहिए। विरोधियों का दमन करना चाहिए। धन-लाभ, पुत्र-लाभ और सुख प्राप्ति के लिए बलिदान करना चाहिए। हे भगवन्! हमारे शत्रुओं को नष्ट कर दे, और हमें धन धान्यादि से परिपूर्ण बना दे।" अथवा जो देव कहे कि—"मैं दुष्टों का संहार करने के लिए और धर्म की रक्षा के लिए अवतार धारण करूंगा।" इत्यादि प्रकार के वचनों को पढ़कर कोई समझदार व्यक्ति सोचे कि—'क्या ये भी आत्मोद्धार करने वाले शास्त्र हैं? जिन वचनों में पौद्गलिक आकांक्षाएँ रही हुई है और जिनमें त्याग विराग की मुख्यता नहीं है, ऐसे शास्त्र, आत्मा के लिए उपकारक कैसे हो सकते हैं? ये तो संसार-भ्रमण का ही मार्ग बताते हैं,' इस प्रकार विचार करते, जिसकी आत्म-परिणति सुधार कर दर्शन-मोह का क्षयोपशमादि हो जाय और पूर्वभव की अवरुद्ध पर्याय खुलकर सम्यक्त्व प्राप्त

करले, तो यह अपवाद स्वरूप है, फिर भी मिथ्याश्रुत तो अपने आप में मिथ्या ही है, सम्यग् नहीं है। क्योंकि वह विशिष्ठ परिणति वाले किसी एक के लिए सम्यग्रूप से परिणत हुआ, किंतु अन्य लाखों के लिए तो वह मिथ्या रूप ही परिणत होकर मिथ्यात्व को पुष्ट करता है। तात्पर्य यह कि मिथ्याश्रुत का पठन-पाठन, मिथ्यात्व का पोषण है, इसलिए वर्जनीय है।

सम्यक्त्व परम दुर्लभ है

विश्व में अनन्तानन्त जीव हैं, किंतु सम्यक्त्वी जीव उनके अनन्तवें भाग में ही है। मिथ्यात्वी जीव सम्यक्त्वी से अनन्तगुण अधिक हैं। अनन्त जीव मुक्त हो चुके और भविष्य में भी अनन्त जीव मुक्त होंगे, फिर भी मिथ्यात्वी जीव तो मुक्तात्माओं से तथा अमुक्त सम्यक्त्वियों से, सदैव अनन्तगुण अधिक ही रहेंगे। इसका कारण यह कि यह सारा विश्व मिथ्यात्वी जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। विश्व का एक भी ऐसा आकाश प्रदेश नहीं जो जीव से रहित हो। सूक्ष्म जीवों से सारा विश्व ठसाठस भरा हुआ है और जीवों में विशालतम संख्या मिथ्यात्वियों की ही है। एकेंद्रियों से लगाकर चौरेन्द्रिय तक के (कुछ अपर्याप्त विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को छोड़कर) समस्त जीव, मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि उन्हें न तो श्रवणेन्द्रिय प्राप्त है, न मन ही। मन के अभाव में असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। इस प्रकार इन जीवों में मिथ्यात्व सर्वत्र व्याप्त है और ये जीव सदैव अनन्त (वन-

प्ति अनन्त और अन्य असंख्य) ही होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का मुख्य साधन श्रवणेन्द्रिय की प्राप्ति होना है। जिसे श्रवणेन्द्रिय प्राप्त हुई, वह ज्ञान की बातें सुन सकता है, इसलिए आगमकार ने 'सवणे णाणे य विण्णाणे' कहा है। इसमें श्रवण की भूमिका सर्व प्रथम प्राप्त होती है। जिसे श्रवण-भूमिका प्राप्त हुई अर्थात् जो श्रोता बने, उनमें कोई अनुकूल संयोग पाकर आगे बढ़ता है। श्रवण-भूमिका में पहुंचने वाले तो असंख्य प्राणी हैं, किंतु उनमें बड़ी संख्या असंज्ञी-मन रहित जीवों की है। ऐसे जीव भी सम्यक्त्व रूपी रत्न पाने के योग्य नहीं हैं। जिन जीवों के मन होता है, वे ही श्रवण की हुई वस्तु को अवधारण कर सकते हैं, चिंतन मनन कर सकते हैं। अतएव मात्र श्रवण मिल जाने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके बाद मन का प्राप्त होना भी आवश्यक है।

श्रोतेन्द्रिय तथा मन सहित जीव को ज्ञान सुनकर सोचने की योग्यता प्राप्त होना जितना सरल है, उतना ज्ञान प्राप्ति का योग मिलना सरल नहीं है। बेचारे नारकों और तिर्यंचों को कौन ज्ञान सुनाता है। देवों में भी बहुत से भोग-विलास में सराबोर रहते हैं। ज्ञानोपदेश सुनने का योग विशेषकर मनुष्यों को प्राप्त होता है।

मनुष्यों में भी सम्यग्ज्ञान के सुनाने वाले कितने? अनार्य देशों में ऐसा सुयोग प्राप्त होना कठिन ही है, और आर्य देश में भी ऐसा योग सरल नहीं है। मिथ्यात्व के चंगुल में फंसे

हुए प्राणियों को सम्यग्ज्ञान के श्रवण का सुयोग प्राप्त होना असंभव-सा है। भोग-प्रधान रुचि वाले मनुष्यों को त्याग-धर्म कैसे रुचे ? प्राप्त सुयोग और ज्ञानोपदेश श्रवण करने वाले भी दर्शन-मोह के उदय से सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं, तो जो जन्म से तथा कौटुम्बिक आदि परिस्थितियों से ही निरन्तर मिथ्या बातें सुनने में रुचि रखते हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान श्रवण करने का सुयोग मिले ही कैसे ? तात्पर्य यह कि यदि श्रवण की भूमिका प्राप्त हो गई, तो ज्ञान की प्राप्ति होना बड़ा ही कठिन है। उदयभाव के वश होकर जीव, श्रवण-भूमिका को प्राप्त करके भी ज्ञान से वंचित रह जाते हैं और जीवन समाप्त कर ऐसी विषम स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं कि जिससे पुनः श्रवण-भूमिका प्राप्त होना ही कठिन हो जाय।

पुण्योदय से किसी जीव को श्रवण के साथ सम्यग्ज्ञान सुनने या पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हो भी जाय तो 'विज्ञान-भूमिका' का प्राप्त होना कठिन हो जाता है। यह विज्ञान-भूमिका ही तो सम्यक्त्व प्राप्ति करवाती है। सुनते तो बहुत हैं, पर उस पर चिंतन मनन करके अवधारण करने वाले तो विरले ही होते हैं। संसार में ऐसे प्राणी भी होते हैं, जिन्हें सम्यग्ज्ञान—वीतराग वाणी सुनने का सुयोग प्राप्त होता है। वे सुनते भी हैं, और ज्ञान का अध्ययन भी करते हैं, तथा पूर्वधर तक हो जाते हैं—नौ पूर्व से अधिक ज्ञान का अभ्यास करके महापण्डित जैसे हो जाते हैं, फिर भी सुविज्ञान-भूमिका की प्राप्ति के अभाव में वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। उनके पढ़ने

का लक्ष्य, मुक्ति का नहीं होता। वे परीक्षा में उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होकर महापण्डित कहलाना तथा लौकिक सुख-सामग्री प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे विज्ञान-भूमिका से शून्य व्यक्ति, उम्रभर पढ़ते-सुनते रहें, तो भी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

जिस प्रकार भूमि पर अनुकूल वर्षा हो जाय, खूब-खूब पानी बरसे, किंतु कृषक बीज ही नहीं बोवे, तो फल कैसे मिले। उसी प्रकार श्रवण रूपी क्षेत्र में ज्ञान की वर्षा तो खूब होती रहे, पर विज्ञान का बीज ही नहीं बोया जाय, तो सम्यक्त्व रूपी फल मिले ही कैसे ? अथवा वर्षा खूब हो रही हो, किंतु उस पानी को पीकर पेट में उतारा ही नहीं जाय, तो प्यास मिटे कैसे ? जब तक विज्ञान-भूमिका प्राप्त नहीं होती, तब तक मिथ्यात्व की उष्णता दूर होकर सम्यक्त्व रूपी शीतलता प्राप्त नहीं होती। सुविज्ञान रहित ज्ञान प्राप्त करने वाले, तो अभव्य जीव भी हो सकते हैं, किंतु उससे उनका मिथ्यात्व नहीं मिटता। वास्तव में विज्ञान-भमिका ही सम्यक्त्व रत्न को प्रदान करती है। इसके बाद विरति धर्म की प्राप्ति होती है—'**सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे,**' तात्पर्य यह कि श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान से संयम की प्राप्ति होती है। जो निसर्गरुचि सम्यक्त्व वाले हैं, वे भी प्राय: पूर्वभव में विज्ञान-भूमि को प्राप्त किये हुए होते हैं। अतएव श्रवण और ज्ञान का सुयोग पाकर विज्ञान-भूमिका को बलवान एवं सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करते ही रहना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का महत्व

धर्म के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये चार भेद हैं। मोक्ष-मार्ग चारों ही भेदों से युक्त है। इन चारों की उत्कृष्टता ही से मोक्ष प्राप्त होती है। लेकिन इन चारों में भी सम्यग्दर्शन का महत्व अत्यधिक है। ज्ञान, चारित्र और तप से भी इसका मूल्य बहुत अधिक है। बिना सम्यग्दर्शन के यदि नौ पूर्व से अधिक ज्ञान पढ़ लिया, उच्च चारित्र का पालन भी कर लिया और उग्र तपस्या से देह को कृश बना डाला, तो फल क्या हुआ? अकाम-निर्जरा और शुभ-बन्ध ही न? जो चारित्र और तप, सम्यग्दर्शन के साथ होने पर मोक्ष दिलाने वाला होता है, वही इसके अभाव में स्वर्गीय सुख देकर फिर दुःख-परंपरा में गिराने वाला हो जाता है। तब मूल्य किसका अधिक हुआ? सम्यग्-दर्शन का ही।

सम्यग्दर्शन में वह शक्ति है कि इसकी उपस्थिति में दुर्गति का बन्ध तो हो ही नहीं सकता, यदि यह साथ नहीं छोड़े, तो चारित्र की प्राप्ति करा ही देता है—इस भव में नहीं हो, तो पर भव में।

जीव, पहले तो अकाम-निर्जरा के द्वारा ६९ क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम की मोहनीय की स्थिति को तोड़ता है, उसके बाद सम्यक्त्व प्राप्त करता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के समय भी उसके एक कोड़ाकोड़ सागरोपम लगभग स्थिति के कर्म होते हैं। यदि जीव, सम्यक्त्व को पाकर उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ रक्खे, तो वह अधिक से अधिक ६६ सागरोपम जितने काल में ही समस्त कर्मों को नष्ट करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है और यह ६६

सागरोपम की स्थिति भी अधिकतर दैविक सुखों में बीतती है। बीच के मनुष्य-भव भी उसके सुखों से पूर्ण होते हैं।

विचार करिये, अधिक निर्जरा किससे होती है ? अनन्त संसार का अन्त कौन करता है ? एक सम्यग्दर्शन ही ऐसा है कि जिसके चलते अनन्त पुद्गल परावर्त्तन का संसार-भ्रमण नष्ट होकर अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन तक सिमट जाता है और सम्यग्दर्शन से रहित चारित्र का पालन किया जाय, तो वह चारित्र और तप, कितना ही उग्र क्यों न हो, एक भी भव कम नहीं होता। बिना सम्यक्त्व के उच्च चारित्र और उग्र तप का पालन करने वाले अभव्यों के अनन्त भव-भ्रमण में कुछ भी कमी नहीं होती। दूसरी ओर कोई अनपढ़ हो—अधिक पढ़ा लिखा नहीं हो, चारित्र के गुण भी उसमें नहीं हो, किंतु सम्यक् श्रद्धान युक्त हो, तो उसका भी मूल्य है, महत्व है। वह दर्शन गुण, उस आत्मा में चारित्र गुण भी जगा देगा और मुक्ति प्राप्त करा देगा। अतः स्पष्ट हो चुका कि सम्यग्दर्शन के बिना पड़ा हुआ श्रुत भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता, पाला हुआ चारित्र भी सम्यक् चारित्र नहीं होता और तपा हुआ उग्र तप भी सम्यक् तप नहीं होकर अकामनिर्जरा का ही कारण होता है। आराधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के बिना तीनों बेकार हैं, किंतु इन तीनों के बिना अकेला सम्यग्दर्शन भी मूल्यवान है। इन तीनों को लाकर मोक्ष में पहुँचाने वाला है। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष महल की आधार शिला है, अतएव यह महामूल्यवान रत्न है। तीन रत्नों में बहुमूल्य वस्तु—सम्यग्दर्शन है।

इसकी प्राप्ति, रक्षण और संवर्धन में सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए और आगे बढ़कर सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए।

चारित्र, केवल इस भव का ही साथी रहता है। भवान्तर में जाते समय चारित्र साथ नहीं जाता, मोक्ष पाने वाले का चारित्र भी यहीं छूट जाता है, किंतु दर्शन तो भवोभव का साथी है। यदि आत्मा उदयभाव के वश होकर इसे नहीं छोड़े, तो यह भवान्तर में भी साथ जाता है, यहां तक कि मुक्ति में भी यह साथ रहता है।

उपरोक्त कथन का आशय, चारित्र के महत्व को गिराने का नहीं है, और यह भी सत्य है कि यदि विज्ञान-भूमिका प्राप्त होने के बाद प्रत्याख्यान-भूमिका नहीं आवे और चारित्र को प्राप्त नहीं करे, तो निश्चय ही वह सम्यक्त्व-रत्न को गंवाकर मिथ्यात्व में गिर जाता है। यों सम्यक्त्व की स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक बताई है, लेकिन विचार करते यह लगता है कि ये ६६ सागरोपम भी चौथे गुणस्थान में नहीं बीतते हैं। बीच में प्रत्याख्यान-भूमिका आती है, तब ६६ सागरोपम तक सम्यक्त्व रह सकती है। श्रीमद् सागरानन्दसूरिजी तो लिख गये कि—'के तो आगल वध, के राजी नामुं आप,' अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप चौथे गुणस्थान से आगे बढ़कर प्रत्याख्यान की भूमिका में आने पर ही सम्यग्दर्शन, ६६ सागरोपम जाजेरा रह सकता है और मुक्ति दिला सकता है। यदि प्रत्याख्यान-भूमिका में नहीं आवे, तो पीछे हटकर मिथ्यात्व में जाना

पड़ता है। दर्शन प्राप्ति के बाद चारित्र, मुक्ति का प्रत्यक्ष साधन हो जाता है। दर्शन का गुणस्थान मात्र एक ही है—चौथा, लेकिन शेष दस गुणस्थान चारित्र के ही हैं। अतएव चारित्र का महत्व भी कम नहीं है। यह महत्व भी दर्शन सहचारी चारित्र का ही है, दर्शन रहित चारित्र का महत्व कुछ भी नहीं है। आगे के सभी गुणस्थानों में दर्शन साथ रहता ही है। तात्पर्य यह कि चारित्र भी वही मूल्यवान और कार्य-साधक होता है, जो सम्यक्त्व युक्त हो।

जिस प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के बाद शेष तीन कर्मों का क्षय हो जाना अत्यंत सरल होता है और अघाति-कर्मों का क्षय भी सरल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शनमोहनीय के हटने से चारित्रमोहनीय का क्षयोपशमादि भी देर-अबेर होता ही है, अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद देर से भी हो, पर कभी न कभी चारित्र की प्राप्ति हो ही जाती है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव, चारित्र रुचि-वाला होता है। यदि वर्तमान में वह चारित्र-मोहनीय के उदय से चारित्र का अंशतः भी आराधन नहीं कर सकता, तो उसकी चारित्र-रुचि उसे कालान्तर में चारित्र दिला-कर रहेगी।

विज्ञान-भूमिका की दशा

विज्ञान-भूमिका को प्राप्त हुई भव्यात्मा में निर्ग्रंथ-प्रव-चन के प्रति अत्यन्त रुचि होती है। वह स्वीकार करती है कि

"सद्दहामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं, पत्तिया-

मिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोयामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं।"

भगवन्! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन की श्रद्धा करता हूँ। यह श्रद्धा तो ओघ-संज्ञा से भी हो सकती है। शास्त्रों में लिखा, इसलिये **'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'** मानकर श्रद्धा व्यक्त की जा सकती है, लेकिन साधक आगे बढ़कर उत्साह पूर्वक कहता है कि-'मैं निर्ग्रंथ प्रवचन की अपूर्वता-सर्वश्रेष्ठता की प्रतीति (विश्वास-खातरी) करता हूं। प्रतीति करने के बाद यदि रुचि-अपनाने की इच्छा (आदर) नहीं करे, तो भी न्यूनता रहती है, इसलिये वह यह भी कहता है कि-"मैं निर्ग्रंथ प्रवचन में रुचि रखता हूं,' इस प्रकार जिसकी दशा हो, वही विज्ञान-भूमिका को प्राप्त सम्यग्दृष्टि है। वह अपने हृदय में दृढ़ता-पूर्वक मानता है कि-"इस विश्व में एक मात्र निर्ग्रंथ-प्रवचन ही आत्मा के लिये वास्तविक अर्थ-प्रयोजन है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय सभी अनर्थ हैं, दुःख-परंपरा के बढ़ाने वाले हैं, अनादि संसार के हेतु हैं,"-इस प्रकार का श्रद्धा-बल, प्रातः स्मरणीय आनन्द, कामदेव और अरहन्नक आदि श्रेष्ठ श्रमणोपासको में था। वे गृहस्थ होते हुए भी, जिनेश्वर द्वारा प्रशंसित थे। उनकी दृढ़ता, साधुओं के लिये भी आदर्श रूप थी। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में होने पर वह क्षायिक सम्यक्त्व की कारण बनती है और यथाख्यात-चारित्र प्राप्त करवाकर जैन से जिनेश्वर बना देती है।

वर्त्तमान युग में दर्शनमोहनीय के उदय से प्रेरित, कई

जैन नामधारी लोग, श्रद्धालुओं की श्रद्धा को नष्ट करने के लिये 'सर्वधर्म समभाव' की जहर की मीठी गोली खिला कर दर्शन रूपी आरोग्यता को नष्ट करते हैं और मिथ्यात्व रूपी रोग के घर बना देते हैं। नकली वस्तु देकर असली वस्तु छीनते हैं, मोक्षमार्ग छुड़ाकर संसार-मार्ग में जोड़ते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिये और अपने सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न की रक्षा करनी चाहिये।

श्रद्धालुओं का परम आधार

सम्यक्त्व का मूल आधार, देव-तत्त्व पर विश्वास करना है, क्योंकि धर्म का उद्गम स्थान ही देव है। सर्वज्ञ जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट धर्म ही सत्य—परम सत्य है। वह शाश्वत सुखों का देने वाला है। यही धर्म उपादेय है। परमार्थ साधक और परमपद के इच्छुक को सबसे पहले, धर्म के उद्गम स्थान देव-तत्त्व को पहिचानना चाहिए। जिस प्रकार बाजार में ग्राहक के सामने असली, नकली, बढ़िया, घटिया, विशुद्ध, अशुद्ध, निर्दोष, सदोष और अच्छी बुरी सभी तरह की चीजें आती है, यह ग्राहक की योग्यता और विवेक-बुद्धि पर निर्भर है कि वह कैसी वस्तु अपनावे। असली ले या नकली, अच्छी ले या बुरी, उसी प्रकार आत्म-साधक व्यक्ति के सामने भी इस संसार रूपी बाजार में अनेक धर्म और मन्तव्य उपस्थित होते हैं। उन सब में से किसे अपनाना, यह साधक की विवेक-बुद्धि को सोचना है। बुद्धिमान परीक्षक सोचता है कि मैं किसकी बात मानूं ?

जो बुराइयाँ और खामियाँ मुझ में हैं, उन्हीं बुराइयों और खामियों के पात्र का पल्ला पकड़ने से मेरा निस्तार नहीं होगा। जो स्वयं विषय और कषाय में ओतप्रोत हैं, रागद्वेष से जिनका सम्बन्ध दृढ़तापूर्वक लगा हुआ है, और जो अज्ञान के पाश से मुक्त नही हुए हैं, उनका आश्रय लेने से मेरा क्या हित होगा? जिस प्रकार दरिद्र की सेवा से कोई धनवान नहीं हो सकता, उसी प्रकार संसार-रत प्राणी की सेवा से मुक्ति लाभ नहीं हो सकता। इस प्रकार सोचते हुए, जिस सद्भागी साधक की दृष्टि जिनेश्वर देव की ओर जाती है। वह सहसा बोल उठता है कि—

अहो! मिल गया। वह अचिन्त्य चिन्तामणि मिल गया। भव्य जीवों का जीवन आधार, विश्वत्राता, जिसे मैं विश्व की धर्म-हाटों में ढूँढ़ रहा था, वह धर्मराज, प्रकृति की सुन्दर वाटिक के शान्त एकान्त स्थान में मिल गया। अहो! इस विश्व-हितङ्कर में कितनी शान्ति विराज रही है। इस महामानव में न तो विषयों के विष का लेश है और न कषायों का कलुष ही। राग-द्वेष विहीन यह विश्व-पिता, प्रत्येक भव्य को यही सन्देश देता है कि—

"**देवाणुप्पिया! बुज्झ! बुज्झ!! बुज्झ!!! संबुज्झं किं न बुज्झह?**" मैंने उस लोकनायक का महान् उपदेश सुना। वह सर्वज्ञ था। उसकी वाणी अपूर्व एवं अविरुद्ध थी। दुनिया के दूसरे धर्म-नायकों की तरह उसकी वाणी में विसंवाद नहीं था। उस सर्वदर्शी धर्म-सम्राट ने विश्व के ऐसे

रहस्य प्रकट किये कि जिन्हें दुनिया का दूसरा कोई भी देव नहीं जान सका। अहो ! मैं कितना भाग्यशाली हूं। आज मुझे मेरा तारक मिल गया। मैं निहाल हो गया। संसार की समस्त संपत्ति मुझे मिल गई।"

जो वीतराग एवं सर्वज्ञ हो, वही सच्चा मार्ग-दर्शक हो सकता है। तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप और आत्मोत्थान की उत्तम विधि वही बता सकता है। वह दुनियाँ के दूसरे देवों की तरह रुष्ठ और तुष्ठ नहीं होता। वह प्रत्येक आत्मा में परमात्म-सत्ता स्वीकार करता है। वह किसी एक ईश्वर को जगत् का नियामक स्वीकार नहीं करता। उसके तत्त्व-ज्ञान में अनन्त ईश्वरों का अस्तित्व है और सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा कोई भी आत्मा, परमात्मा बन सकता है--ऐसा उसका उद्घोष है। उसके मार्ग में छोटे बड़े और सूक्ष्म प्राणियों तक की अहिंसा का अद्वितीय विवेक है। आत्म-शुद्धि का क्रम तथा कर्म-निर्जरा का जैसा स्वरूप, जिनेश्वर के धर्म में है, वैसा अन्यत्र कहां है ?

वर्त्तमान में, उस विश्वोत्तम द्वारा सुवासित वातावरण में रहकर भी जो जीव, उसको नहीं पहिचान सकते और दूसरे रागी द्वेषी तथा अल्पज्ञों के चक्कर में पड़कर, उस परमवीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा को, असर्वज्ञ एवं रागी बताते हैं, उसका महत्व गिराकर उसे निम्न-कोटि का बताते हैं, वे सचमुच जिन-धर्म के विरोधी हैं। भव्य-प्राणियों को मिथ्यात्व में भटकाने वाले हैं और हैं मोक्षमार्ग के प्रत्यनीक। ऐसे व्यक्तियों के हाथ में यदि नैतृत्व आ जाय, तो वे अपने कुकृत्यों से इस उत्तमोत्तम मार्ग

का लोप करने में ही अपनी शक्ति लगाते हैं। जो जिनेश्वर भगवंतों की वीतरागता सर्वज्ञता नहीं मानते, वे जैनत्व से ही इन्कार करते हैं। जब जिनेश्वर वीतराग नहीं, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं, तो उनका उपदिष्ट मार्ग भी विशुद्ध नहीं। उनमें भूल एवं स्खलना हो सकती है, तो उनके मार्ग के प्रचारक–गुरुवर्ग भी उसी दूषित मार्ग के प्रचारक हो सकते हैं। धर्म का मूल उद्‌गम स्थान ही जहाँ त्रुटिपूर्ण हो, तो उनका धर्म और उसके आश्रित गुरु-वर्ग भी त्रुटिपूर्ण ही होता है। इस प्रकार भगवान् जिनेश्वर देवों की वीतरागता और सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता को नहीं मानने वाले, उनके मार्ग को भी त्रुटि-पूर्ण माने, तो इसमें सन्देह ही क्या है ? ऐसे लोग, जिनेश्वर, उनके तत्त्वोपदेश तथा मुक्तिमार्ग के विरुद्ध प्रचार करने वाले हैं, उनका महत्व गिराने वाले हैं, वे भव्य-जीवों के हित-शत्रु हैं।

हां, तो धर्म का उद्‌गम स्थान देव-तत्त्व है। आत्मा को परमात्मा बनानेवाली प्रक्रिया का वास्तविक उपदेष्टा यदि कोई है, तो केवल सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंत ही। धर्म के इस मूलाधार को यथार्थ रूप में मानने वाला, उनके प्रवचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाला ही सम्यक्त्व युक्त हो सकता है। जिसके हृदय में जिनेश्वर भगवंतों की परम वीतरागता, सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता तथा उनके निर्ग्रंथ-प्रवचन में श्रद्धा नहीं–दृढ़ श्रद्धा नहीं, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, मिथ्यादृष्टि है।

जो धर्म के मूलाधार ऐसे देवतत्त्व पर श्रद्धा रखता है, वही गुरु-तत्त्व पर भी श्रद्धा रखता है। गुरु के गुरुत्व की कसौटी

उसके सामने मौजूद रहती है। देव के बताये हुए गुरु के लक्षणों से युक्त, सर्वत्यागी, मुक्ति-पथ के पथिक, निरवद्य जीवन व्यतीत करने वाले और जिनेश्वर भगवंत के वचनों का प्रचार करने वाले ही सच्चे गुरु हैं। वे मुक्ति-पथ के सार्थ हैं। आचार्य उनके सार्थवाह हैं, इतना ही नहीं, वे जिनेश्वर भगवंत के प्रतिनिधि हैं और अपनी साधना से वे शीघ्र ही जिनेश्वर के समान होने वाले हैं। निर्ग्रंथ मुनिराज, सम्यग्दृष्टियों के लिए दूसरे आधार हैं।

वर्त्तमान समय में इस गुरु-पद का वेश धारण करके कई लोग अपनी कुश्रद्धा और कदाचार से निर्ग्रंथ-धर्म का लोप करते हैं। कई संसार-मार्ग के प्रचारक बन गये हैं। उन्हें अपने वेश का भी विचार नहीं होता। वे जैन-मुनि कहाते हुए भी जिनेश्वरों का महत्व गिरावें, और उन्हें अन्य रागी एवं अल्पज्ञों की श्रेणी में रखें, तथा सावद्य प्रचार करें, तो वे वास्तव में सुगुरु नहीं, कुगुरु हैं। सुगुरु के वेश में कुगुरु हैं। सम्यग्दृष्टियों का कर्त्तव्य है कि ऐसे धर्म-घातक स्वांगधारियों का संसर्ग भी, कुगुरु त्याग की तरह त्याग दें। ऐसे लोग तथा-रूप के कुगुरु से भी अधिक भयानक होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति और स्थिति का तीसरा आधार, सम्यक्-श्रुत है। सम्यक्-श्रुत वह है—जिसमें निर्ग्रंथ-प्रवचन सुरक्षित है। ऐसे आचारांगादि सम्यक्-श्रुत के श्रवण, पठन, मनन से सम्यक्त्व की प्राप्ति, स्थिति, रक्षा और वृद्धि होती है। सम्यक्-श्रुत, उत्थान में सहायक होता है। इसके आधार से हम देव और

गुरु का स्वरूप, अगार तथा अनगार धर्म और निर्वाण-मार्ग को जान सकते हैं और यथाशक्य आचरण करके उन्नत हो सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यों के लिए सम्यक्-श्रुत ही मति-श्रुत ज्ञान में वृद्धि तथा अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। सम्यक्-श्रुत के अवलंबन से आत्मा अशुभ परिणति से बचकर प्रशस्त भावों में विचरण करता है। यह श्रुतावलम्बन ही आत्मावलम्बन का कारण है। इससे परावलम्बन छूटकर आत्मावलम्बन बढ़ता है।

तत्त्वार्थ श्रद्धा

कुदेवादि को मानना अथवा 'जीव को अजीव' आदि खोटी मान्यता रखना ही मिथ्यात्व है—ऐसी बात नहीं है। यह विवेचन तो उन जीवों की अपेक्षा से है, जो किसी अन्य देवादि के मानने वाले हों। संसार में अनेक प्रकार के मत चल रहे हैं, जो अपने पक्ष को धर्म के नाम से चलाते हैं। उनमें से बहुत से पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क आदि मानते हैं। कुछ 'मोक्ष' को भी मानते हैं, भले ही उनकी मान्यता विपरीत हो, परन्तु वे भी अपने मत को 'धर्म' ही कहते हैं। इस प्रकार के अन्य-मतों को ही असम्यग्-दृष्टि कहने से विवेचन अधूरा ही रहता है। शेष ऐसे जीव भी रह जाते हैं जो किसी भी धर्म या पंथ को नहीं मानते। कुछ तो धर्म मात्र से घृणा करके धर्म-निरपेक्ष हो गये हैं और कई ऐसे हैं कि जिनके जीवन का लक्ष ही

अर्थ-प्राप्ति या भौतिक सुखों में लीन रहना है, तथा धर्म का संबंध केवल मन वाले संज्ञी-जीवों से ही है, असंज्ञी जीव तो सभी ऐसे हैं कि जिनका किसी भी धर्म से कोई संबंध ही नहीं है। इस प्रकार के असंज्ञी, और धर्म-निरपेक्ष संज्ञी जीवों को 'कुश्रद्धा' रूप मिथ्यात्व नहीं लगता, फिर भी वे सम्यग्दृष्टि नहीं है। क्योंकि उनमें वास्तविक तत्त्व-श्रद्धा का अभाव है। उनमें कुश्रद्धा नहीं, परन्तु अश्रद्धा है। तत्त्व की रुचि नहीं और जबतक तत्त्व-श्रद्धा नहीं होजाय, तबतक जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है। तात्पर्य यह कि मिथ्यात्व निवृत्ति के लिए तत्त्व-श्रद्धान होना परमावश्यक है। इसीलिए उत्तराध्ययन २८ में 'कुदर्शन-वर्जन' रूप आचार के पूर्व ही 'परमार्थ-संस्तव' और 'सुदृष्ट परमार्थ सेवन' रूप आचार का होना है। तत्त्वार्थ सूत्र भी "**तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**" कहता है। तात्पर्य यह कि कुश्रद्धा त्याग ही पर्याप्त नहीं, किन्तु तत्त्वार्थ-श्रद्धा होने पर ही मिथ्यात्व छूटता है और सम्यग्दृष्टि बनता है। मिथ्यात्व त्याग के लिए तत्त्वार्थ श्रद्धा आवश्यक है।

पहले से चौथा कब ?

'सम्यग् दर्शन' ही सिद्धि का प्रथम सोपान है, धर्म की मूल-भूमिका है। इसके बिना प्राणी अनाराधक रहता है, फिर भले ही वह प्रशान्त कषायी और शुक्ल-लेश्या युक्त क्यों न हो। प्रथम गुणस्थान में पांचों महाव्रतों का कठोरता से पालन भी होता है, उग्र तपस्या भी होती है। इतना होते हुए

भी वह आराधक नहीं माना जाता, उसका गुणस्थान पहला ही होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि उस क्रिया के साथ धर्म का आधारभूत सम्यग्दर्शन नहीं है। वह सारी साधना, बिना नींव के हवाई-महल के समान है। गुब्बारा (फुग्गा) वहीं तक आकाश में ऊँचा उड़ता रहता है, जबतक कि उसकी हवा नहीं निकले। जबतक उग्र आचार से प्राप्त शुभ-कर्म रूपी हवा की शक्ति है, तबतक वह प्राणी दैविक सुख पाता रहता है, और जहां यह शक्ति खत्म हुई, तो ऐसा नीचे गिरता है कि फिर उसके लिए दुःख-परम्परा ही मुख्य रह जाती है। सम्यक्त्व के अभाव में उसकी साधना, आराधना की सीमा में नहीं आ सकती।

सत्रह पापों के सद्भाव में भी

चौथे गुणस्थान में अठारह पाप में से एक मिथ्यात्व जाता है, शेष १७ पाप-स्थान रहते हैं। फिर भी वह आराधना की जघन्य सीमा में तो आ ही जाता है।

एक ओर १७ पापस्थान रहते हुए भी आराधक, और दूसरी ओर चारित्राचार का कठोरता से पालन करते हुए भी अनाराधक। पहले के लिए चौथा गुणस्थान, तब दूसरे के लिए पहला ही। इसका मुख्य कारण ही सम्यक्त्व की महिमा है, यथार्थ श्रद्धा का महत्व है। जिसकी दृष्टि सुधर गई, उसका आचरण भी कभी सुधरता है। चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से यदि वह इस भव में, चारित्र प्राप्त नहीं कर सकता, तो अगले मनुष्य-भव में चारित्र प्राप्त कर लेगा। यदि अगले मनुष्य

भव में चारित्र प्राप्त नहीं किया और सम्यक्त्व का संबल भी छूट गया, तो एक बार के सम्यक्त्व के संस्कार, उसमें फिर से सम्यक्त्व को जगा देगा और अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन तक तो उसे मोक्ष में पहुँचा ही देगा।

ज्ञान भी अज्ञान

मिथ्यात्व के सद्भाव में ऊँचे प्रकार का ज्ञान भी अज्ञान होता है। कई प्राणी ऐसे होते हैं, जिनमें ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से जानकारी अधिक होती है। नव पूर्व से अधिक ज्ञान तक पा लेते हैं, और उनके उपदेश से दूसरे प्रतिबोध पाकर अपना हित साध लेते हैं, किंतु वे तो ज्ञानियों की दृष्टि में अज्ञानी ही रहते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में उग्र चारित्र भी अचारित्र रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में पूर्वों का आगमिक ज्ञान भी अज्ञान होता है और तप भी बन्ध का कारण होता है।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही—उसी समय अज्ञान, ज्ञान के रूप में परवर्तित हो जाता है। एक समय का भी अन्तर नहीं रहता, फिर भले ही वह स्वल्प ही हो। और बिना सम्यक्त्व के पूर्वों का ज्ञान भी अज्ञान रहता है। सम्यक्त्व में वह शक्ति है कि वह अज्ञान को ज्ञान बना देती है।

इतना महत्त्व क्यों ?

कोई पूछ सकता है कि 'सम्यक्त्व को इतना महत्त्व क्यों

दिया गया ? ज्ञान, चारित्र और तप से भी सम्यक्त्व को अत्यधिक महत्व देने का कारण क्या है ? ' प्रश्न ठीक है। समाधान में कहा जाता है–किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने के पूर्व उसके उद्देश्य, नियम तथा परिणाम को समझ लेना आवश्यक है। बिना सोचे-समझे किया हुआ प्रयत्न बेकार जाता है और दुःखदायक भी हो जाता है।

आँखों पर पट्टी बाँध कर चलने वाला या अन्धा व्यक्ति, गलत दिशा में चलकर इच्छित स्थान से दूर भी चला जाता है, और कूएँ या खड्डे में गिरकर जान से हाथ भी धो लेता है। यदि उसकी आँखों की पट्टी खुल जाय या नैत्र की ज्योति प्राप्त कर ले, तो वह खाई खड्डे से बचकर निश्चित्त स्थान पर पहुँच सकता है।

एक बाई, यदि बिना सोचे समझे भोजन की सामग्री का उपयोग करे और हलवे में नमक मिर्च और मसाले मिला दे, तथा दाल शाक में शक्कर आदि डाल दे, तो वह परिश्रम करते हुए और मूल्यवान सामग्री लगाते हुए भी विफल तथा निन्दा की पात्र होगी।

एक निशाने बाज, पूरी शक्ति और बढ़िया साधनों से निशाना लगावे, किंतु उसकी दृष्टि सधी हुई नहीं है, तो वह निशाना नहीं वेध सकेगा। उसका निशाना चूक जायगा और उसका प्रयत्न बेकार हो जायगा।

दो भूखे चूहे, भोजन की तलास में निकले। उन्हें मिठाई की सुगन्ध आगई थी। उस घर में एक सँपेरा ठहरा

था। उसके एक करंडिए में साँप और दूसरे में मिठाई थी। एक चूहे ने करंडिए को सूंघा, पहले में उसे सुगन्ध नहीं आई, वह दूसरे करंडिए के पास गया और सुगन्ध पाकर उसे काटकर मिठाई खाई। दूसरे चूहे ने विना सोचे-समझे साँप वाले करंडिए को काटा और साँप का भक्ष बन गया।

यह है विना सोचे-समझे प्रयत्न का परिणाम। बिना सोचे-समझे प्रयत्न करने से सुख के बजाय दुःख पल्ले पड़ता है और राष्ट्र तक बरबाद हो जाते हैं। इन उदाहरणों से सम्यग्-दर्शन का महत्व समझ में आ सकता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ही जीव, अनादिकाल से संसाराटवी में परिभ्रमण कर रहा है। इसके बिना कठोर संयम तथा उग्र तप भी बेकार से रहे। यह है सम्यग्दर्शन का महत्त्व।

अपरिवर्त्तनीय

सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न की प्राप्ति सरल नहीं है। यह किसी की इच्छा या समझ पर आधारित नहीं है और न किसी के अभिप्रायों से इसका रूप बनता-बिगड़ता है। यह अपने आप में जैसा है वैसा ही है। सर्वज्ञ भगवंतों ने सम्यग्-दर्शन का जो स्वरूप बताया है, वही सत्य तथ्य और यथार्थ है। उसी की आराधना से ध्येय की सिद्धि होती है।

यदि कोई लौकिक विद्याओं का पंडित—विश्व-विद्यालयों का प्रोफेसर, प्रिंसिपल अथवा भौतिक विज्ञान का आचार्य, सम्यग्दर्शन के विषय में अपना अभिप्राय व्यक्त करे, और वह

आप्त-वचनों के किंचित् भी विपरीत लगता हो, तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ भगवंतों के सिद्धांत में, छद्मस्थ त्रुटि नहीं बता सकता। वह इसके योग्य ही नहीं है। आजकल के प्रोफेसरों को, पूर्व के ज्ञान का अंश भी ज्ञात नहीं है, जब नौ पूर्व से अधिक पढ़े हुए भी मिथ्या-दृष्टि हो सकते हैं, तो आजकल के इन प्रोफेसरों की हस्ति ही क्या है? ये तो उनके सामने वामन और बेंतिये से भी छोटे हैं। यदि इनकी स्वच्छन्द-बुद्धि के अनुसार सम्यग्दर्शन का रूप बनता हो, तो वह एक रूप में रह भी नहीं सकता। भिन्न-भिन्न पंडितों के भिन्न भिन्न मत होते हैं, किंतु सम्यग्दर्शन का रूप तो एक ही है। अतएव इसके स्वरूप के विषय में किसी को अपनी टांग अड़ाना निरी हिमाकत है, अनधिकार हस्तक्षेप है। एक अश्रद्धालु-कुश्रद्धालु, जिनेन्द्र भगवान् के सिद्धांतों को बिगाड़ने की कुचेष्टा करे, यह उसकी स्वच्छन्दता का नग्न ताण्डव ही है।

एक भाषा-शास्त्री है, वह आरोग्य शास्त्री, न्यायशास्त्री, युद्ध-विद्या-विशारद, वाणिज्य निपुण और कृषि विशारद आदि नहीं हो सकता—यह सब कोई जानते हैं। तब वह धर्म-विशारद धर्मज्ञ और धर्म का महाज्ञानी बनने का ढोंग करके आप्त सिद्धांतों को झुठलाने की कुचेष्टा क्यों करता है? वह जिन शब्दों और वाक्यों का अपनी स्वच्छन्दता पूर्वक भिन्न अर्थ करता है और संस्कृति के प्रतिकूल परिणाम निकालता है, क्या यह उसकी अनधिकार चेष्टा नहीं है?

आत्मार्थियों का कर्त्तव्य है कि वे हिताहित को समझें

और कुप्रचारकों के चक्कर में नहीं आकर जिनेश्वर भगवंतों के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखे। अपनी श्रद्धा की सुरक्षा ही संसार से पार उतारने वाली प्रथम शक्ति है। परम दुर्लभ ऐसी सुश्रद्धा को पाकर जो उसे सुरक्षित रखता हुआ आगे बढ़ेगा, वह अवश्य मुक्ति लाभ करेगा।

सम्यग्दृष्टि का निर्णय

कोई कहते हैं कि-'मनुष्य अपनी दृष्टि का निर्णय स्वयं कर सकता है। "मैं सम्यग्दृष्टि हूं या मिथ्यादृष्टि," इस विषय का निर्णय आत्मा अपने आप कर सकती है। उसे किसी दूसरे के निर्णय की आवश्यकता नहीं रहती' इस प्रकार दृढ़तापूर्वक आग्रह के साथ कथन किया जाता है। इन पंक्तियों में इसी पर विचार किया जाता है।

हम अपने आप में सम्यक्त्व होने का निर्णय कर सकते हैं, अवश्य कर सकते हैं, किंतु किसी प्रामाणिक आधार-कसौटी के बल पर ही। बिना किसी आधार या अशुद्ध आधार से, अपनेआप किया हुआ निर्णय गलत भी हो सकता है। प्रामाणिक कसौटी पर कस कर किया हुआ निर्णय भी गलत हो सकता है, तो बिना किसी आधार के निश्चित्त किये हुए विचार का तथ्यहीन सिद्ध हो जाना असंभव नहीं है। व्यवहार में भी हम देखते और अनुभव करते हैं कि जिन रोगों को हम साधारण और सुसाध्य मानते हैं, वे दुःसाध्य अथवा असाध्य सिद्ध होते हैं। तपेदिक आदि रोगों में डॉक्टर का निदान सुनकर कितने

ही लोग चौंक उठते हैं। पहले उनको इसका आभास ही नहीं होता। इसी प्रकार मुकद्दमों का फैसला, प्रतियोगिता में अपने निश्चय के विपरीत परिणाम आना, पूर्णरूप से लाभ के विश्वास के साथ किए हुए व्यापार में हानि हो जाना, आदि ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जिससे हमारी धारणा एवं मान्यता के विपरीत फल होता दिखाई देता है, तब 'अपनी दृष्टि यथार्थ है या नहीं, हमारी आत्मा पर दर्शन-मोहनीय का आवरण है या नहीं, अथवा क्षयोपशम होगया है,'—यह कैसे जान सकते हैं? यदि कोई अपने मन से निश्चय कर ले कि 'मैं सम्यग्दृष्टि ही हूं,' तो क्या उसका यह निश्चय सत्य ही होता है, उसे भ्रम नहीं हो सकता, यह कैसे कहा जा सकता है?

हाँ, हम शास्त्रों की तुला पर अपने विचार एवं परिणति को तोल कर निर्णय करें, तो वह बहुधा सत्य हो सकता है। इसके लिए शास्त्रों को कसौटी रूप बनाकर, उस पर अपनी परिणति को कसकर, बुद्धिमता पूर्वक निर्णय करें, सम्यग्दृष्टि के लक्षण आदि अपने में पावें, तो वह निर्णय बहुधा ठीक हो सकता है, किंतु बिना किसी प्रौढ़ एवं वास्तविक आधार के ही मनस्वीपने से कोई अभिप्राय बनालें, तो ऐसे विचार बहुधा भ्रामक होते हैं।

जिनागमों में उल्लेख है कि सूरियाभ आदि देव और इन्द्र, अवधि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान के धारक होते हुए भी अपनी दृष्टि के विषय में भगवान् महावीर प्रभु से पूछते हैं कि—"प्रभु! मैं सम्यग्दृष्टि हूं या मिथ्यादृष्टि?" वे अपने विषय में सर्वज्ञ

भगवान् के निर्णय को जानना चाहते हैं और उसी निर्णय को स्वीकार करते हैं। ऐसे उल्लेख हमें यह बतलाते हैं कि बिना शास्त्रीय आधार के अपने आपके लिए दृष्टि का निर्णय कर लेना और उसे सर्वथा सत्य मान लेना अनुचित है।

यदि ऐसा निर्णय करने की शक्ति सर्व साधारण मनुष्यों में होती, तो बहुत से मनुष्य मिथ्यादृष्टि नहीं रहते। तामली तापस और पूरन तापस जैसे कितने ही अजैन तापस, आत्मार्थी थे। उनकी कषायें पतली एवं उपशान्त थीं, उनमें दुराग्रह नहीं था। वे अपनी मान्यता को पूर्ण रूप से सत्य मानकर कठोर साधना करते थे। फिर भी उनकी दृष्टि शुद्ध नहीं थी। वे भ्रम में ही थे और अपने भ्रम को ही यथार्थ मानते थे। जब उनका भ्रम दूर हुआ, तभी वे सम्यग्दृष्टि हुए। ग्रैवेयक में जानेवाले सलिंगी मिथ्यादृष्टि की आत्म-परिणति और चर्या कितनी ऊँची होती है? शुक्ल-लेश्या युक्त एवं मनोयोग पूर्वक संयम साधना करते हुए भी वे मिथ्यादृष्टि रहे। क्या वे अपने आप को मिथ्या-दृष्टि मानते थे? नहीं। वे अपनी मान्यता को सत्य एवं यथार्थ मानते थे और दूसरे यथार्थ मानने वालों को असत्य मानते थे। यदि उन्हें अपनी भूल दिखाई देती, तो वे उसे छोड़कर सत्य अपना लेते। वे अपनी मान्यता को सत्य एवं सम्यग् ही मानते थे। यह उनका भ्रम था। वे भ्रम को ही यथार्थ मानते थे। इस प्रकार की भूल सामान्य मनुष्य से ही नहीं, पूर्वधर से भी हो सकती है। ऐसी दशा में सामान्य मानव कहे कि—'अपने में सम्यक्त्व होने का सत्य निर्णय मनुष्य स्वतः कर सकता है,' यह

कितनी तथ्य-हीन बात है ?

परमतारक प्रभु महावीर से साक्षात्कार होने के पूर्व श्री इन्द्रभूतिजी आदि भी अपने आपको सत्पथगामी और भगवान् को दंभी एवं इन्द्रजालिक मानते थे।

श्री आर्द्रकुमार निर्ग्रन्थ के सम्पर्क में आनेवाले तापसादि अपने को सत्पथगामी ही मानते थे। जमाली भी अपनी विचारणा को सत्य मनता था और भगवान् के सिद्धांत को असत्य कहता था, किंतु ये सब असत्य सिद्ध हुए। अतएव बिना सैद्धांतिक कसौटी के अपनेआपको सम्यग्दृष्टि मानना भ्रम है-बुद्धि का विपर्यास है।

मनुष्य, अपनी बुद्धि, विचारणा और निश्चय के अनुसार किसी बात का निर्णय करलेता है एवं तदनुसार ईमानदारी पूर्वक निष्कपट भाव से प्रचार भी करता है, किंतु उसकी विचारणा एवं निश्चय, निर्दोष ही है, भ्रम रहित ही हैं, यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि ईमानदारी से किये हुए सभी निर्णय सत्य ही होते हों, तो अपील-कोर्टो में कोई भी निर्णय नहीं बदला जाना चाहिए, और अपील-कोर्ट की आवश्यकता ही नहीं रहनी चाहिए। अपील-कोर्ट से भी भूलें होती है। कभी निर्दोष दंडित हो जाते हैं और अपराधी निर्दोष होकर छूट जाते हैं। अतएव 'मनुष्य का अपना निर्णय सत्य ही होता है'-यह मानना भूल है। जब पौद्गलिक विषयों में भी भ्रम से असत्य निर्णय हो जाते हैं, तब तात्त्विक एवं आत्मिक विषय में मनस्वी निर्णय सत्य ही होता है-यह कहना तो दुःसाहस ही है।

अतएव शुद्ध निर्दोष ज्ञानियों के आधार का अवलम्बन लेकर अपनी परिणति देखना और निर्दोष बनने का प्रयत्न करना ही हितकर है।

स्व-पर विवेक

जड़ के सम्बन्ध से हमारी आत्मा इतनी अधिक बँधी हुई है कि जिससे छूटना बड़ा कठिन हो रहा है। बन्धनों की कठोरता, अधिकता और दृढ़तमता ने, अनन्त-शक्ति सम्पन्न आत्मा को एकदम कमजोर बना दिया और बन्धनरूप शत्रु बलवान हो गया। बलवान शत्रु पर विजय पाना, कमजोर व्यक्ति के लिए अशक्य है। उसे तो हर हालत में दूसरे की सहायता लेनी ही पड़ेगी। बिना दूसरों की सहायता के एक कमजोर व्यक्ति, कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा, कर्मों के बन्धनों में बंधी हुई है, आज से नहीं, अनादिकाल से। अनन्त आत्माएँ तो ऐसी हैं कि जिन्हें अपनेपन का ज्ञान ही नहीं है। कई आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते, कई मानते हैं, तो स्वरूप की अज्ञानता से विपरीत समझते हैं। कुछ जीव ऐसे भी हैं जिन्हें आत्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है और वे शत्रु तथा मित्र को पहिचानते हैं। ऐसे थोड़े से जीव ही कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त कर स्वतन्त्र होने में यथाशक्ति प्रयत्नशील हैं। वे मानते हैं कि कर्म-बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा, किस प्रकार मुक्त हो सकती है।

शंका—आत्मा, स्वतन्त्र द्रव्य है। उसे जड़-कर्म नहीं बाँध

सकते। जीव और अजीव दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। जो आत्मा होकर अपने को जड़-कर्मों के बन्धन में बंधा हुआ मानता है, वह मिथ्यात्वी है। वह आत्मा की अनन्त शक्ति को नहीं समझने वाला अज्ञानी है। जब आत्मा बन्दी ही नहीं, तो मुक्त होने का प्रश्न ही कैसे हो सकता है?

समाधान—शरीरधारी को एकांत 'मुक्त आत्मा' कहना तो प्रत्यक्ष ही असत्य है। उसे कथंचित् बन्दी मानना ही पड़ेगा। अन्यथा विविध शरीरों और रूपों में—मनुष्य, पशु, त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर आदि पृथक् पृथक् भेदों एवं शरीरों में वह क्यों रहा हुआ है?

जब सभी आत्मा में अनन्त ज्ञानादि शक्ति समान रूप से रही हुई है, तो एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी, एक सम्यक्त्वी दूसरा मिथ्यात्वी, एक सुखी दूसरा दुखी, एक सम्पन्न दूसरा विपन्न, एक संज्ञी दूसरा असंज्ञी,—ये भेदानुभेद ही क्यों है? जब ये भेद हैं, तो मानना पड़ेगा कि शक्ति में भी भेद है। जब मूल शक्ति सब में समान रूप से है, इसमें किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं है, तो ये दृश्यमान भेद क्यों हुए? इसका एक मात्र समाधान यही है कि आत्मा, जड़ के बन्धनों में बंध कर पराधीन हो गयी है। उसकी ज्ञानादि शक्ति अवरुद्ध है। छोटे बालक और युवक मनुष्य की मूल आत्म-शक्ति तो समान ही है, पर एक युवक, अनेक बालकों से अधिक बलवान है। वह अनेक बालकों को भयभीत कर देता है, पीट देता है और जान से मार भी सकता है। उसके सामने बालक तुच्छ, निर्बल और

अपनी रक्षा करने योग्य नहीं माना जाता। इसका यही कारण है कि युवक की शक्ति कुछ विकसित है, तब बालक की शक्ति अवरुद्ध है—बद्ध है। उसका विकास नहीं हो पाया है। वह युवक की अपेक्षा विशेष बन्दी है।

संसार के सभी प्राणियों में गति, स्थिति, इन्द्रियादि संबंधी जो विविधता दिखाई देती है, वह बन्धनावस्था ही के कारण है। मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं रहता। सभी मुक्तात्माओं की शक्ति, ज्ञान, सुख आदि समान है। भेद संसारियों में ही रहा हुआ है। एक केवलज्ञानी पाँच सौ धनुष्य जितना दीर्घ शरीरी है, तो दूसरा दो हाथ से भी कम लम्बा। एक लगभग करोड़ पूर्व तक मनुष्य शरीर में रहता है, तो दूसरा केवल प्राप्ति के कुछ देर बाद ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। एक के अतिशयों की ऋद्धि है और विशाल शिष्य-परिवार है, तो दूसरा माथे पर आग का भीषण उपसर्ग सहता हुआ एकाकी अवस्था में देह त्यागता है। एक गुरु है, तो दूसरा शिष्य है। जब कि इनके सभी के केवलज्ञानादि आत्मिक गुण समान हैं, किंचित् भी अन्तर नहीं है। इससे सिद्ध हो जाता है कि संसारी जीव, जड़ के संयोग से संबंधित है, बन्दी है और इसी से यह विविधता है।

यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि हमारी आत्मा, संयोग-संबंध में बंधी हुई है। अतएव आत्मा को सर्वथा मुक्त—एकांत मुक्त, कहने वालों की वात असत्य है। संयोग-सम्बन्ध में बंधे हुए होकर भी अपने-आप को मुक्त कहने वालों की बात सत्य

नहीं है।

जीव, सर्वथा मुक्त भी हो सकता है, पहले हुए भी हैं। जब मुक्त जीव भी है, जीव मुक्त भी हो सकता है, तो मुक्त होने का कोई उपाय भी अवश्य ही होना चाहिए। वह उपाय है—निर्ग्रंथ प्रवचनानुसार सम्यग् ज्ञानादि का आचरण करना। जिनेश्वर देव, निर्ग्रंथ गुरु तथा जिनागमों का अवलंबन लेकर जीव, बन्धन-मुक्त हो सकता है।

शंका—पर से मुक्त होने के लिए परावलम्बन लेना, यह तो उन्मार्ग है, उलटा रास्ता है। क्या कभी विष से भी अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है? परावलम्बन बन्धनकारक ही होता है, मुक्तिदाता तो स्वावलम्बन ही है। इसलिए देव, गुरु आदि 'पर' का अवलम्बन त्याग कर अपने आप में लीन होना, अपने आपका अवलम्बन करके स्थिर—निष्कम्प हो जाना ही मोक्ष का सच्चा उपाय है। आपका बताया हुआ उपाय तो बन्धन कारक ही है। आप उसे मुक्ति का उपाय कैसे कहते हैं?

सजातीय विजातीय

एकांत निश्चयवादी पूछ रहा है कि—'पर के बन्धन से मुक्त होने के लिए पर का अवलम्बन लेने का सिद्धांत असत्य है। देव गुरु और आगम भी पर हैं, इनके अवलम्बन से मुक्ति होने की मान्यता युक्ति-संगत नहीं है। इस प्रकार का कथन सम्यग् विचार युक्त नहीं है। यह ठीक है कि अपने से भिन्न सभी वस्तुएँ 'पर' हैं, फिर भले ही वह जड़ हो या चेतन, माता

पितादि हो, या देव गुरु आदि। इन सब को अपने से भिन्न मानना सत्य है, किंतु पर होते हुए भी माता-पितादि हितैषी और चोर लुटेरे व शत्रु आदि में अन्तर है। माता-पितादि रक्षक हैं और चोर लुटेरे हत्यारे आदि भक्षक हैं--नाशक हैं। अतएव हेय--हानिकारक पर का त्याग करना और हितकारक का आदर करना आवश्यक है, जिसके अवलम्बन से ध्येय की प्राप्ति हो।

पर भी दो प्रकार का होता है, एक सजातीय और दूसरा विजातीय। जड़, विजातीय पर है और आत्मा सजातीय। पर--विजातीय पर से स्नेह करना=पुद्गल की सेवा करना, पाप है और सजातीय आत्मा की सेवा करना एवं शान्ति पहुँचाना--पुण्य है। इस प्रकार 'पर' बन्ध का कारण होते हुए भी विजातीय पर की सेवा, अशुभ बन्ध का कारण है और सजातीय पर की सेवा प्रायः शुभ-बंध का कारण है।

सजातीय पर के भी दो भेद हैं। एक प्रकार के जीव अधोगामी हैं, बन्धनों में अधिकाधिक बंधते जा रहे हैं, और दूसरी प्रकार के जीव ऐसे हैं जो बन्धन-मुक्त हो चुके हैं, या हो रहे हैं। प्रथम प्रकार के जीव भी विजातीय पर की तरह अवलम्बन के योग्य नहीं है, किंतु दूसरी प्रकार की सजातीय आत्माएँ, पर होते हुए भी स्वोपयोगी हैं। माता-पितादि की तरह पालक हैं। इसमें से देव-कोटि के जीव तो स्वतन्त्र हो चुके हैं, और गुरु कोटि के सजातीय, स्वतन्त्रता संग्राम चला रहे हैं, इसलिए ये आदर्श हैं। इनका अवलम्बन करके हम शक्ति-सम्पन्न हो सकते हैं, और उस शक्ति से समर्थ बन कर स्वतन्त्र

हो सकते हैं।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए, शत्रु के शत्रु की सहायता लेनी पड़ती है। उसे मित्र बनना पड़ता है। इसी प्रकार बन्ध रूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए, बन्ध के शत्रु ऐसे संवर और निर्जरा की सहायता से युद्ध चलाना पड़ता है। इस युद्ध का लक्ष तो पर से सर्वथा मुक्त होने का ही है, किंतु बन्धनकारक गुलामी में जकड़ने वाले-शत्रुरूप पर से मुक्त होने के लिए, मित्ररूप-बन्धन काट कर स्वतन्त्र बनाने वाले पर का सहारा लेना पड़ता है। यही सरल और सीधा मार्ग है।

जिन विचारों और कृत्यों से बन्धन बढ़ते हैं, उनसे विपरीत परिणति से बन्धन कटते हैं-यह सामान्य सिद्धांत है। पर से प्रीति करने, उसे अपनाने और उस पर आसक्त होने से बन्ध-परंपरा बढ़ी, अब उससे उलटी परिणति से-हिंसादि पाप तथा विषय-कषायरूप पर की प्रीति-आसक्ति का त्याग करके, उनसे पृथक् होने पर बन्ध रुकता है और लगे हुए पूर्व के बन्ध टूटते हैं, यह समझना कठिन नहीं है।

एक प्रशस्त 'पर' के अवलम्बन से, अनन्त अप्रशस्त पर से संबंध छूटता है। एक दुर्दान्त महान् योद्धा की शरण में जाने से, हजारों लाखों वैरियों से रक्षा होती है। पुलिस का आश्रय लेने पर चोरों एवं हत्यारों से बचा जाता है। इस प्रकार एक अरिहंत देव का अवलम्बन लेने से-ध्यान करने से, उस समय संसारकेअनन्त पर का लक्ष्य छूटता है। अनन्त विजातीय एवं शत्रु रूप पर से मुक्त होने के लिए, एक सजातीय मित्र-

रूप पर का आश्रय लेना हितकर ही है। जिस प्रकार माता पिता समान पालक के सहारे से, बालक सुरक्षित रह कर बड़ा होता है और समर्थ बन जाता है, उसी प्रकार देव गुरु और धर्मरूपी माता, पिता, ज्येष्ठ बांधवों तथा मित्रों के सहारे से पापरूपी शत्रुओं से बचता हुआ जीव, शक्तिमान बन जाता है। जब तक बालक है, तबतक उसे पालक की आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जाने पर वह स्वयं अपना और दूसरों का पालक-पिता बन जाता है, ठीक यही बात आत्मा के विषय में है। जबतक वह पाप-मिथ्यात्व-अविरति आदि में फँसा है, तबतक उनसे पृथक् होने के लिए, उसे देवादि तथा व्यवहार-धर्म रूप विरति आदि की आवश्यकता होती ही है, और इसी के सहारे से वह सप्तम गुणस्थान तक प्रगति करता है। यहाँ तक वह इतना समर्थ हो जाता है कि फिर स्वयं अपूर्वकरण कर-क्षपक श्रेणी का आरोहण करके, अवशेष शत्रुओं को क्षय करता हुआ पूर्ण विजेता हो जाता है। पालक बन जाता है, जैन से जिन हो जाता है। फिर उसे किसी के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती।

अकेला पुरुष, अपना धन माल लेकर निर्जन वन में जा रहा है। चोरों लुटेरों और भयानक हिंसक पशुओं का भय है। ऐसी विषम परिस्थिति में, किसी विश्वास-पात्र सहायक को 'पराया' कह कर साथी नहीं बनाने देने वाले और अकेले को चोर डाकुओं के बीच छोड़ने वाले सलाहकार, किस प्रकार हितैषी अथवा समझदार हो सकते हैं? जिन्होंने शत्रु और मित्र का

भेद नहीं जाना और सभी 'पर' को एकान्त रूप से त्याज्य बता दिया, उन्हें न तो भोजन करना चाहिए और न पानी ही पीना चाहिए। क्योंकि भोजन पानी और शरीर भी 'पर' हैं। शरीर में रहना, भोजनादि करना और इन सबसे अपने को सर्वथा भिन्न बतलाना, प्रत्यक्ष असत्य है। हम भोजन पान में विवेक रखते हैं। विषपान और अपथ्यकारी भोजन से बचते हैं, उसको निकट ही नहीं आने देते। भोजन-पान के विषय में हम हेय और उपादेय का विवेक रखते हैं। यह सब 'पर' होते हुए भी अनुकूल प्रतिकूल का विचार करके हेय एवं प्रतिकूल का त्याग कर,उपादेय एवं अनुकूल को अपनाते हैं, उसी प्रकार आत्मोत्थान के मार्ग में भी अनिष्ट पर को त्यागने के लिए, ईष्ट पर का अवलम्बन लेना आवश्यक है, हितकर है और समर्थ बनाने वाला है। जो 'पर' कह कर,उपकारी तत्त्वों को भी त्याज्य बतलाते हैं, उनका उत्थान संभव नहीं है।

परावलम्बन से पतन और उत्थान का एक सरल उदाहरण, आत्मार्थी पं. श्री उमेशमुनिजी म० ने गत (सन् १९५९) चातुर्मास में यहाँ दिया था। वह इस प्रकार है।

मनुष्य रस्सी के सहारे ऊँडे कूएँ में उतरता है, और ठेठ तल तक पहुंच जाता है। उसे जब ऊपर आना होता है, तब भी वह रस्सी के सहारे से ही ऊपर आता है। वह नीचे उतरता है, तब भी रस्सी के सहारे से उतरता है और ऊपर चढ़ता है तब भी रस्सी का सहारा लेता है। उस समय वह यह तर्क नहीं करता कि—रस्सी तो मुझे कूएँ में ठेठ तल तक ले

आई, अब उसी का अवलम्बन क्यों लूँ ? नीचे लाने वाली चीज, कभी ऊँचा भी उठा सकती है ? रस्सी के अवलम्बन से मैं नीचे उतरा, अब ऊँचा चढ़ने में रस्सी की क्या जरूरत ? इस प्रकार सोचकर यदि वह रस्सी का सहारा नहीं ले, तो उस पाताल कूएँ से वह बाहर नहीं निकल सकता। वह ऊपर उठ कर बाहर आता है, तो रस्सी के सहारे से ही। बिना पराश्रय के वह ऊपर उठने में समर्थ नहीं है। यही बात प्रस्तुत विषय में लागू होती है।

जीव अप्रशस्त पर–विजातीय पर के सहारे से पतन को प्राप्त होता है और प्रशस्त पर–सजातीय पर के सहारे से उत्थान करता है। मोह के वश होकर, अनेक प्रकार के पाप कर्म करके पतित होता है, और अप्रशस्त मोह–नीचे ले जाने वाले मोह को छोड़कर प्रशस्त (ऊपर उठाने वाले) मोह–संवेग धर्म-प्रेम, देव गुरु भक्ति आदि से उत्थान कर लेता है।

जीव, जीव का सजातीय द्रव्य है, किंतु जो जीव, पुद्-गलानन्दी एवं भवाभिनन्दी हैं, वे सजातीय होते हुए भी सम्य-ग्दृष्टि के लिए विजातीय हैं,–जड़ के पक्षकार हैं। इनका अव-लम्बन नीचे ले जाने वाला है। सजातीय, सम्यग्दृष्टि आदि हैं। इनमें गुणाधिक देव गुरु का प्रेम, रस्सी की तरह हमारे उत्थान में आधारभूत–अवलम्बन रूप होता है।

मोह की मस्ति से अठारह प्रकार के पाप करके जीव पतित हुआ, कूएँ के पैंदे में पहुँच गया। नीचे उतरते समय उसकी दृष्टि भी नीची ही थी। वह अधोमुख था। अब वह

ऊपर उठना चाहता है, तो सहारा तो उसे उसी मोह रूपी रस्सी का लेना पड़ेगा, परंतु इस समय उसकी दृष्टि नीची नहीं होकर ऊँची रहेगी। वह उर्ध्वमुखी होगा। उसका पाप से स्नेह नहीं होकर धर्म से प्रेम होगा, देव गुरु की भक्ति होगी। विषयासक्ति का स्थान अब त्यागानुवृत्ति ने ले लिया है। विषयानुराग का स्थान धर्मानुराग-संवेग रंग ने लिया है। यह प्रशस्त-मोह का अवलम्बन उसे कूएँ से निकालकर उस धरातल पर ले आयगा, जहां वह पहुँचना चाहता है। फिर वह स्वावलम्बी बन जायगा। अप्रशस्त परावलम्बन से पतन हुआ था-कूएँ में पड़ा था, अब प्रशस्त परावलम्बन से ऊँचा उठेगा।

लक्ष्य में है निश्चय-स्वयंभू बन जाने की दृष्टि, और आचरण में है व्यवहार-लक्ष्य की ओर बढ़ने की क्रिया। इन दोनों के सुमेल से ही जीव, आत्मा से परमात्मा बनता है। कूएँ में पड़ा हुआ जीव, पहले बाहर निकलने का ध्येय बनाता है और फिर रस्सी पकड़कर उसके सहारे से ऊपर चढ़ने की क्रिया करता है। जब वह कूएँ के किनारे पर आ जाता है, तो रस्सी का अवलम्बन उसके लिए व्यर्थ हो जाता है। किंतु जब तक वह ध्येय से थोड़ा भी दूर रहता है, तब तक वह रस्सी के सहारे को छोड़ता नहीं है।

प्रथम गुणस्थान में जीव, अधोमुखी होता है। यदि वह उर्ध्वमुखी होना चाहता है, तो भी मार्ग का सम्यग्ज्ञान एवं प्रतीति नहीं होने से वह कूएँ से बाहर नहीं निकल सकता और इधर उधर ही भटकता रहता है। जब उसे मार्ग का वास्तविक

ज्ञान और प्रतीति होती है, तब उसका ध्येय शुद्ध होता है और उसके बाद वह देव गुरु और धर्मरूप स्वजातीय पर का अवलम्बन लेकर स्वयं उन्नत होने का प्रयत्न करता है।

ध्येय-लक्ष्य दूर रहता है, इतना दूर कि जिसे प्राप्त करने में समय लगता है और उन स्थितियों से होकर गुजरना पड़ता है, जो ध्याता और ध्येय के बीच में रही हुई है। जघन्य स्थान में रहे हुए व्यक्ति को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने के पूर्व सभी मध्यम स्थानों को पार करना ही पड़ता है। यह दूसरी बात है कि किसी को लम्बा काल लगता है, तो किसी को थोड़ा। यह तो सर्वथा अशक्य ही है कि बिना श्रेणी चढ़े कोई सीधा प्रथम गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुंच जाय अथवा सिद्ध हो जाय +।

लोक के अशुभ व्यवहार में पड़े हुए जीव को, अव्यवहारी होने के लिए सर्व प्रथम शुभ एवं शुद्ध व्यवहार का आश्रय लेना ही पड़ता है, तभी वह अव्यवहारी बनता है। अशुभव्यवहारी से सीधा अव्यवहारी बन जाय-ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह ध्रुव सिद्धांत है कि-

"अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ कम्मुणा उवाही जायइ" (आचारांग १-३-१)

अर्थात् व्यवहार (अस्थिरता, ग्रहण करना, छोड़ना, एक स्थान से दूसरे स्थान जाना, संयोग-वियोगादि विविध भावों

+ हां, बीच में कोई जीव, कुछ स्थान लांघ सकता है, पर आगे जाकर तो उसे अप्रमत्त होकर क्षपक-श्रेणी का आरोहण करना ही पड़ेगा।

में परिणमन) से रहित वे ही जीव हैं, जो कर्म से रहित—अकर्मी हो चुके हैं, पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं, कृतकृत्य हो चुके हैं। जो सकर्मी हैं, जिनकी आत्मा पर कर्म का कचरा जमा हुआ है, वे उस अवस्था के चलते अव्यवहारी नहीं हो सकते। जहां कर्मों से आत्मा का संबंध है, वहां व्यवहार है ही। व्यवहार की समाप्ति का उचित एवं अनुकूल मार्ग है—अशुभ का त्याग और शुभ-व्यवहार का अवलम्बन। शुभ-क्रिया के अवलम्बन के मूल में अव्यवहारीपन का ध्येय तो रहना ही चाहिए। तभी वह अव्यवहारी, स्वयंभू दशा को प्राप्त कर सकता है।

जिनागमों में भव्यात्माओं के उद्धार के लिए ऐसे ही मार्ग का प्रतिपादन किया गया है, जो सांव्यवहारी से अव्यवहारी बनानेवाला है। जब संवेग सम्पन्न आत्मा, निर्ग्रंथ प्रव्रज्या स्वीकार करती है, तब वह प्रतिज्ञा करती है कि—

'इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राइभोयणवेरमण-छट्ठाइं 'अत्तहियट्ठाए' उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।"

(दशवै० ४)

अर्थात् ये पाँच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन त्याग व्रत मैं "आत्महितार्थ" ग्रहण करता हूँ। तात्पर्य यह कि संसार त्याग कर प्रव्रजित होने का एक मात्र ध्येय, आत्महित—आत्मशुद्धि, आत्मशांति एवं आत्म-स्थिरता है। इस दशा के प्राप्त होने पर जीव, अव्यवहारी हो जाता है।

जीव, समस्त पापाश्रवों के द्वारा आते हुए कर्मों के भार से भारी होकर संसार-समुद्र के तल में पड़ा है। उसे सद्गुरु

के निमित्त से या निःसर्गरुचि से यह ज्ञान हो गया कि—आश्रव के चालू रहते हुए मैं कभी हलका और सुखी नहीं हो सकता। निरास्रव दशा ही पूर्ण एवं शाश्वत सुख देने वाली है, किंतु यह निरास्रव अवस्था, विचार करने या मन के मनोरथ मात्र से प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिए उचित प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। तब वह जिनेश्वर भगवंतों के बताये हुए पापास्रव त्याग रूप शुद्ध व्यवहार के द्वारा उन छिद्रों को बन्द कर देता है कि जिनसे अशुभ-कर्मों की आवक होती रहती है। सराग-दशा के कारण, प्रशस्तराग के चलते, शुभ-कर्मों की आवक उसे होती रहती है, परन्तु यह तो उसकी विवशता है। क्योंकि वह बिना अवलम्बन के वर्तमान अवस्था में स्वावलम्बी नहीं हो सकता। इसीलिए वह प्रशस्त राग के द्वारा वीतराग भगवन्तों, गुरुदेवों और धर्म का अवलंबन, रस्सी की तरह ग्रहण करता है। जिस प्रकार कूएँ से बाहर निकलने वाले के हाथ में रस्सी पकड़ी हुई होती है, परन्तु दृष्टि ऊपर किनारे की ओर होती है, वह किनारे की ओर देखता हुआ अपने हाथों और पाँवों से रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ता रहता है। इसी प्रकार देवादि पर का अवलम्बन लेते हुए भी उसकी दृष्टि तो पूर्ण स्वावलम्बन की ही है। वह अपने आपमें एकान्त स्थिर रहना (सिद्ध दशा) ही चाहता है। इस प्रकार के साधक का व्यवहार, शुद्ध व्यवहार है। अव्यवहारी बनाने वाला है। जिसका ध्येय आत्महित का नहीं है, वह शुद्ध व्यवहारी भी नहीं है। ऐसा जीव, अव्यवहारी नहीं हो सकता।

आगमों में आत्म-लक्षी विधान

जिनागमों में सम्यग्दृष्टि की उन्हीं क्रियाओं को विरति, चारित्राचारित्र, चारित्र और निर्जरा में मानी है, जो आत्महित की दृष्टि से युक्त हो। जहां आत्म-लक्ष छूटा, वहां वही क्रिया बन्ध में मानी गई है, फिर भले ही वह दैविक सुखों को प्रदान करनेवाली हो। यदि आत्मदृष्टि प्राप्त नहीं हुई या होकर निकल गई, तो उन दैविक सुखों की समाप्ति के बाद, कालांतर में दुर्गति का कारण भी बन सकती है। इसलिए आत्मदृष्टि—आत्मा की मुक्ति के लिए, आत्मा के साथ लगे हुए जड़ संयोग से पृथक्, पूर्ण विशुद्ध दशा की प्राप्ति के लिये ही त्याग प्रत्याख्यान और तपादि करना चाहिए। ध्येय-लक्षी प्रवृत्ति ही निश्चय व्यवहार उभय सम्मत होती है। जिनागमों में स्थान स्थान पर ऐसे विधान किये हैं। उन विधानों में से कुछ यहां उपस्थित किये जाते हैं।

(१) आगमकार, मनुष्य के संसार त्याग कर प्रव्रजित होने का कारण निम्न शब्दों में उपस्थित करते हैं।

"अत्तत्ताए परिव्वए"—आत्मत्त्व प्राप्ति (मुक्ति) के लिए प्रव्रजित हो। (सुय. १—३—३—७ तथा १—११—३२)

"अत्तत्ताए संवुडस्स"—आत्मत्त्व के लिये संयमी बने। (सूय. २—२)

(२) पांच महाव्रत और रात्रि-भोजन त्याग की प्रतिज्ञा लेते हुए निर्ग्रंथ, अपना उद्देश्य निम्न शब्दों में व्यक्त कर रहा है।

"इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राइभोयणवेरमण-छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जिता णं विहरामि।"

(दशवै. ४)

(३) "एगंतदीट्ठी य अमाइरूवे"—एकान्तदृष्टि—आत्मदृष्टि (आत्मशुद्धि—कर्मनाशक दृष्टि) से युक्त होकर माया से रहित हो। (सुय. १-१३-६)

(४) "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ"—जो एक आत्मा को जानता है, वह सभी जानता है।

(आचा. १-३-४)

(५) "एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं, जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ।"

—भगवान् उपदेश करते हुए फरमाते हैं कि-आत्मा को अकेला जानकर शरीर को धुनक डालो। शरीर को कृश करो, जीर्ण करो। जिस प्रकार पुरानी लकड़ी को अग्नि जला डालती है, उसी प्रकार मुनि कर्मों को भस्म कर देता है।

(६)—"एवं अत्तसमाहिए अणिहे।"

—आत्म समाधि वाला मुनि रागद्वेष रहित होता है।

(आचा. १-४-३)

(७) धर्मोपदेश करने वाले साधु को सावधान करते हुए भगवान् फरमाते हैं कि—हे साधु! तू धर्म का उपदेश करे, तो—

"अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा, णो परं आसाइज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्जा"......

—धर्मोपदेश करते हुए अपनी आत्मा की आशातना

नहीं करे (उपेक्षा नहीं करे,–आत्म-दृष्टि को नहीं भूले, निर्जरा के उद्देश्य को नहीं छोड़े) न पर की आशातना करे, न पर प्राण-भूतादि की आशातना करे। (आचा. १–६–५)

(८) संयम में सावधान मुनि, किस प्रकार विचरे,–

"एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे।"

–संयम में सावधान मुनि, आत्मस्थित, रागद्वेष रहित, परीषहों के उपस्थित होने पर अचल, अप्रतिबद्ध-विहारी और संयम की मर्यादा से बाहर विचार नहीं करता हुआ विचरे। (आचा. १–६–५)

(९) **"आयगुत्ते सयावीरे जाया मायाइ जावए।"**

मुनि, आत्मगुप्त–आत्मा की रक्षा करता हुआ, पाप से बचाता हुआ, संयम का निर्वाह हो उतना ही आहार करे। (आचा. १–३–३)

(१०) धर्म का उपदेश वही कर सकता है,–

"अत्ताणं जो जाणइ जो य लोगं......

जो अपनी आत्मा को जानता है और लोक को जानता है..... (सूय. १–१२–२०)

(११) निर्ग्रंथ वह है जो –

"एगे एगविउ, बुद्धे छिन्नसोए....आयवायपत्ते।"

–जो एक, एकविद्–आत्मा को जानने वाला ज्ञानी,

आश्रव त्यागी और आत्मवाद को प्राप्त करता है, वह निर्ग्रंथ हैं।

(सूय. १-१६)

(१२) भिक्षु वह है जो-"उवट्ठिए ठिअप्पा"

-सावधान होकर आत्म-स्थित होवे। (सूय. १-१६)

"चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू"

-असंयम का त्याग कर और स्नेह रहित होकर, जो आत्मा में स्थिर रहता है, वह भिक्षु है। (दशवै. १०-१७)

"णिच्चमायगुत्ते"-सदा आत्म-गुप्त रहे।

(उत्तरा. १५-३)

"आयगवेसए स भिक्खू"-जो आत्म-गवेषक है, वह भिक्षु है। (उत्तरा. १५-५)

(१३) "अहम्मे अत्तपण्णहा....पावसमणे त्ति वुच्चई।"

आत्म-प्रज्ञा की हानि करने वाला अधर्मी, पाप-श्रमण है (उत्तरा. १७-१२)

(१४) "विरए आयहिए पहाणवं"-भोगों से विरत, आत्महित में तत्पर और संयम में रहे।

(उत्तरा. २१-२१)

(१५) समाधि कब प्राप्त होती है,-

"आयट्ठीणं आयहियाणं आयजोगीणं आयपरक्कमाणं....दसचित्तसमाहि ठाणाइं असमुप्पण्णपुव्वाइं समुप्पज्जेज्जा।"

—जो आत्मस्थित, आत्महितैषी, आत्मयोगी, आत्मपराक्रमी हैं, उन्हें पूर्व अप्राप्त ऐसी आत्म-समाधि उत्पन्न होती है।

(दशाश्रुत ५)

(१६) आत्मा ही सामायिक, संवर, संयम, प्रत्याख्यान, विवेक, व्युत्सर्ग और इनका अर्थ है। ऐसा भगवती १-९ में लिखा है।

(१७) संयम और तप से आत्मा को पवित्र करते हुए विचरने का उल्लेख तो अनेक आगमों में है।

(१८) **"अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं"**—सुसमाधिवंत मुनि को चाहिए कि सभी इन्द्रियों को वश में रखकर, अपनी आत्मा की सतत रक्षा करता रहे। अर्थात् आत्मा को मलीन होने से बचाता रहे।

(दशवै. चूलि. २-१६)

(१९) **"कुज्जा अत्तसमाहिए"**—आत्म समाधि में कायम रहे। (सूय. १-३-३-१९)

(२०) **"तम्हा विऊ विरओ आयगुत्ते"**—विद्वान् मुनि, विरत होकर आत्म गुप्त हो जाय। (सूय. १-७-२०)

(२१) **"आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे"**—इन्द्रियों का दमन करने वाला साधु, आत्म-गुप्त होकर आस्रव के प्रवाह को रोक देता है और निरास्रवी—संवरवान हो जाता है। (सूय.—१-११-२४)

(२२) **"विरए आयरक्खिए"**—संसार से विरत

होकर आत्म-रक्षक होजाय। (उत्तरा. २-१५)

(२३) "**चरेज्जत्तगवेसए**"–आत्म-गवेषक हो कर संयम में विचरे। (उत्तरा. २-१७)

(२४) "**तेगिच्छं णाभिणंदिज्जा, संचिक्खत्त-गवेसए**"–आत्म-गवेषक मुनि, चिकित्सा–रोग का उपचार करने की इच्छा भी नहीं करे, किंतु शान्तिपूर्वक सहन करे। (उत्तरा. २-३३)

(२५) "**आयाणुरक्खी चरेऽप्पमत्तो**"– आत्म-रक्षक मुनि, अप्रमत्त होकर विचरे। (उत्तरा. ४-१०)

(२६) "**नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा**"–काम भोग और स्त्रियों से परिचय, ये आत्म-गवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान है। (उत्तरा. १६-१३)

(२७) "**वीरा जे अत्तपण्णेसी**"– वीर वही है जो आत्म-प्रज्ञा को प्राप्त हैं। (सूय. १-६-३३)

(२८) "**एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा**"–मुनि एक-त्त्व भावना करे। (सूय. १-१०-१२)

(२९) "**तिविहेण वि पाण माहणे, आयहिए अणियाण संवुडे**"–प्राणियों की हिंसा नहीं करे और संवरवान् बनकर आत्म-हित साधे। (सूय. १-२-३-२१)

(३०) कई वेशधारी, गुप्त रूपसे पाप करते हुए, दूसरों के सामने आत्मार्थीपन का ढोंग करते हैं। उस ढोंग के भुलावे में आकर लोग कहते हैं कि--यह मुनि आत्मार्थी है,–"**आयय-**

ट्ठो अयंमुणी" (दशवै. ५--२--३४)

ऐसे अनेक नमूने आगमों में मिल सकते हैं। इससे स्पष्ट दिखाई देता है कि जैन-धर्म सम्मत संयम, तप, नियम, विरति आदि सब आत्म-शोधन की दृष्टिपूर्वक होते हैं। संवर और निर्जरा, आत्म-शुद्धि कारक तत्त्व हैं। इनकी सहायता से आत्मा की पूर्ण विशुद्धि होकर परमात्म-दशा प्रकट होती है जो अंतिम तत्त्व है। संवर निर्जरा की साधना से मोक्ष के ध्येय की सिद्धि होती है अर्थात् व्यवहार साधना से निश्चय साध्य सिद्ध होता है। जिनागमों के विधान, निश्चय-व्यवहार उभय संमत हैं। जिनागमों में निश्चय के लक्ष्य के साथ व्यवहार-धर्म का आचरण करके कृतार्थ होने का उपदेश हुआ है। श्री जिन-धर्म, न तो एकांत निश्चयवाद में है और न एकांत व्यवहारवाद में। वह है निश्चय और व्यवहार उभय सम्मत सम्यग् आचरण में।

अनादि काल से, अनन्त पर से बद्ध, संबद्ध और क्षीर-नीरवत् एकमेक हुए आत्मा का, केवल जान लेने और श्रद्धा कर लेने से ही विशुद्ध होजाना अशक्य है। स्व-पर का भेद समझ लेने–विश्वास कर लेने से ही, पर से सर्वथा सम्बन्ध नहीं छूट जाता। इसके लिए स्वात्म-स्थिरता अनिवार्य है और स्थिरता, विना शुक्लध्यान के प्राप्त नहीं हो सकती। शुक्ल-ध्यान की प्राप्ति भी धर्मध्यान की उत्कृष्टता को प्राप्त करने वालों में से किसी को होती है और धर्मध्यान में परावलम्बन है ही। वह परावलम्बन, सजातीय विशुद्धतर और विशुद्धतम आत्माओं और उनके उपदेश का होता है, जो विजातीय पर

को त्याग चुके और त्यागने का उपदेश देते हैं। एक सजातीय आदर्श-पर के अवलम्बन से, अनन्त विजातीय-पर से प्रीति छूट जाती है, दृष्टि हट जाती है और एक सजातीय-पर के प्रति प्रशस्त प्रेम रह जाता है। इस साधना में विजातीय-पर के प्रति निर्वेद होजाने से, उनका पूर्व सम्बन्ध भी निर्बल, निर्बलतर और निर्बलतम होकर अन्त में समाप्त होजाता है। सजातीय आदर्श पर के प्रति संवेग और विजातीय हेय पर के प्रति निर्वेद भावना की उत्कृष्टता में, आत्मा इतनी बलवान हो जाती है कि वह शुक्लध्यान प्राप्त कर, समस्त पर से मुक्त होकर, पूर्ण रूप से अपने-आप में स्थिर एवं निष्कम्प दशा को प्राप्त कर लेती है।

पेट में भरे हुए रोग को निकालने के लिये विरेचन लिया जाता है। उस विरेचन से पेट में रुका हुआ मल निकल जाता है। पेट में जमे हुए मैल को निकालने के लिए विरेचन लेने की आवश्यकता होती है, किंतु विरेचन को पेट में से बाहर निकालने के लिए किसी दवाई की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो अपने आप निकल जाता है--मल के साथ ही निकल जाता है। कपड़े में से मैल निकालने के लिए साबुन लगाया जाता है और वह साबुन मैल के साथ ही निकल जाता है। साबुन को निकालने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार आत्मा में से पाप रूपी मल निकालने के लिए, व्यवहार धर्मानुष्ठान किया जाता है। इसमें जिस सजातीय आदर्श पर का अवलम्वन लिया जाता है, वह उतना दृढ़ और सख्त नहीं होता कि जिससे मुक्त होने के लिए

किसी दूसरे अवलम्बन की आवश्यकता हो। उस समय आत्मा स्वयं इतनी शक्तिमान हो जाती है कि जिसके सामने इस विषय का कोई प्रश्न या बाधा ही खड़ी नहीं होती। उसकी आत्म-स्थिरता से वह शुभ अवलम्बन भी अपने आप छूट जाता है और आत्मा, परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

उपरोक्त विचारणा एवं प्रक्रिया की उपेक्षा करके जो एकांत निश्चय को ही पकड़कर बैठ जाते हैं और पर को एकांत और सभी अवस्थाओं में हेय कह कर सजातीय आदर्श अवलम्बन को (खुद अपनाते हुए भी) त्यागनीय कहते हैं, वे सन्मार्ग से इन्कार करते हैं।

एक ओर निश्चयवादी, शुद्ध व्यवहार धर्म का निषेध करते हैं, तो दूसरी ओर कोई लोक-व्यवहार की रुचिवाले, अशुद्ध व्यवहार=सावद्य-प्रवृत्ति को मोक्ष मार्ग बताकर जिनधर्म के प्रति अन्याय करते हैं। कोई आचार्य उपाध्याय पद पर रहते हुए और मोक्ष-साधक का वेश धारण करते हुए भी जनसेवा के नाम पर, समाजवाद के बहाने से, या सर्वोदय की ओट से, आरंभ परिग्रहादि सावद्य परिणति वाला प्रचार करते हैं, वे निश्चय और व्यवहार, इन दोनों पक्षों के विघातक हैं। और जो लक्ष्य-शुद्धि के साथ, शुद्ध व्यवहार धर्म के अवलम्बन से, लक्ष की ओर बढ़ने में प्रयत्न शील हैं, वे उभय साधक होकर, स्व-पर के विवेक से युक्त हैं। वे सफलता की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

आत्मदर्शन और सम्यग्दर्शन

प्रश्न—बिना आत्मदर्शन किये सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ?

उत्तर—आत्मा तो अरूपी है, उसका दर्शन कैसे हो सकता है ? समस्त जैन-सिद्धांत आत्मा को, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय की तरह अरूपी मानता है। इसमें किसी का मतभेद नहीं है। जब हम धर्मास्तिकायादि को रूपी नहीं मानते और प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, तथा रूपी पुद्गल में रहे हुए अनन्त गुण-धर्मों का साक्षात्कार भी नहीं कर सकते और वट-वृक्ष के छोटे से बीज में रही हुई विशालता के दर्शन भी नहीं कर पाते, तो अरूपी आत्मा के दर्शन कैसे कर सकते हैं ? यह चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन का विषय नहीं है। वहुत से देव भी ऐसे हैं—जो बन्ध और निर्जरा के रूपी चौफरसी पुद्गल भी नहीं देख सकते, तो अरूपी आत्मा को कैसे देख सकते हैं ? अतिन्द्रय पदार्थ, लक्षणों से जाने जाते हैं और उनका अनुभव किया जा सकता है। लक्षणों और ज्ञान से जानकर आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। आत्मानुभव को ही यदि 'आत्मदर्शन' कहा जाय, तो बाधा नहीं है।

प्रश्न--बिना आत्मज्ञान हुए व्रत, सामायिक, पौषध और संयम की साधना व्यर्थ होती है, वन्धन कारक होती है। मिथ्यात्व के सद्भाव में कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। आप आत्मज्ञान के पूर्व ही व्रत-प्रत्याख्यान पर जोर क्यों देते हैं ?

उत्तर--आत्मा का साधारण ज्ञान तो सम्यग्दृष्टि को होता ही है। वह इतना तो जानता है कि—१ मैं आत्मा हूँ,

जड़ नहीं हूँ, २ मेरी आत्मा अनादि अपर्यवसित अर्थात् शाश्वत है ३ मैं कर्म का कर्त्ता हूँ, कर्म मेरे ही किये हुए हैं, ४ अपने किये हुए कर्म के फल का भोक्ता भी मैं ही हूँ। मेरी वर्त्तमान अवस्था भी कर्मों के फल स्वरूप ही है, ५ आत्मा मुक्त हो सकती है और ६ मुक्ति का उपाय भी है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप--ये आत्मा की मुक्ति के उपाय हैं।

उपरोक्त षट्पदी का साधारण ज्ञान, श्रावक और साधु को होता है। संक्षेप-रुचि से इतना ज्ञान होना असंभव नहीं है। यदि किसी जीव को इतना भी ज्ञान नहीं हो और वह ज्ञानी पर विश्वास रखकर उनकी आज्ञानुसार साधना करता हो, तो वह भी आराधक होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। भगवती सूत्र श. २५ उ. ७ में स्पष्ट उल्लेख है कि मति-श्रुत ज्ञानी, आठ प्रवचन माता की सामान्य जानकारी से भी श्रेणी का आरोहण करके यथाख्यात-चारित्री और केवलज्ञानी हो सकता है।

हम देखते हैं कि सूझते हुए व्यक्ति के सहारे से अन्धा भी इच्छित स्थान पर पहुँच सकता है। अनजान व्यक्ति भी जानकार का साथ करके, अपरिचित स्थान को पार करता हुआ लक्षित स्थान पर पहुँच सकता है। इसी प्रकार गीतार्थ की नेश्राय में रहा हुआ श्रद्धाशील आत्मार्थी, आराधक हो सकता है।

जिनागम में कहा है कि 'संक्षेपरुचि सम्यक्त्व' भी होता है। ऐसा सम्यक्त्वी भी आत्मा का अस्तित्व और बंधन मुक्ति

में श्रद्धा रखता हुआ आत्मकल्याण कर सकता है। ऐसी संक्षेप-रुचिवाले सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकते।

प्रश्न—जब तक आत्मा का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता, तब तक आत्मत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब आत्मत्व की ही प्राप्ति नहीं हो सकती, तो मुक्ति तो हो ही कैसे सकती है? जिस वस्तु को जो जानता ही नहीं, वह उसे प्राप्त कैसे कर सकता है?

उत्तर—प्रारम्भ में ही आत्मा का अनुभव-ज्ञान, बहुत कम जीवों को होता है। अधिकतर जीव, उपदेश से ही सम्यक्त्व के संमुख होते हैं। जो निसर्गरुचि वाले होते हैं, उनमें भी पूर्व-भव में उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले और ज्ञानाभ्यास किये हुए होते हैं। उन्हीं संस्कारों से, बाद के भव में सरलता से ज्ञान हो सकता है। अन्यथा पहले गुरु के निर्देशानुसार अभ्यास करना आवश्यक होता है। वह अभ्यास उसे आत्मा-नुभव करा सकता है।

प्रश्न—सब से पहले आत्मानुभव कराना आवश्यक है। जब तक यह नहीं हो जाता, तब तक सामायिक, प्रतिक्रमण, आदि पढ़ाना व्यर्थ है। आप इस मूल वस्तु को छोड़कर सब से पहले सामायिक प्रतिक्रमण क्यों पढ़ाते हैं? आत्मा को जाना ही नहीं, तो सामायिकादि जानने का क्या लाभ?

उत्तर—गंभीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम होगा कि ज्ञानाभ्यास और विरति का जो क्रम चला आ रहा है, वह उचित, हितकारी एवं यथार्थ है। इसके विपरीत बातें व्यर्थ है।

किसी भी व्यक्ति को यह कहना तो सहज है कि—'तुम आत्मस्थ हो जाओ, या 'मैं आत्मस्थ हूँ", "मैने आत्मा को देख लिया, जान लिया, आत्म--दर्शन कर लिया" आदि, किन्तु यह सब वाणीविलास मात्र है। सक्रिय-साधना, आत्मस्थिरता की अमोघ विधि है। निम्न उदाहरण इस बात को स्पष्ट करेगा।

एक बच्चा पढ़ने बैठता है। शिक्षक 'अ' या 'क' अक्षर लिखकर उसे लिखना सिखाता है और अक्षरों की पहिचान करवाता है। शिक्षक के पास में बैठा उसका मित्र, शिक्षक को टोकते हुए कहता है;--

"मित्र ! तुम इस बच्चे को व्यर्थ ही क्यों सताते हो ? अरे पहले इसे यह तो बताओ कि—यह 'अ' क्या चीज है, किस काम आता है, इसके कितने रूप बनते हैं, कितने शब्द बनते हैं, इसका लोप किस प्रकार होता है। इस प्रकार 'अ' का स्वरूप तो बताया ही नहीं और सिखाने बैठ गए। इससे क्या लाभ होगा ?"

मित्र की बात सुनकर शिक्षक कहता है;—

—"भाई ! तुम होश में हो क्या ? पढ़ाई का तरीका क्या है, यह सभी पढ़े-लिखे व्यक्ति जानते हैं। तुम और हम इसी तरह पढ़े हैं। यही विधि ठीक है। शिक्षा के द्वार में प्रवेश करनेवाले बालक के सामने, आपके विचारानुसार बातें रख दी जाय, तो वह कुछ भी नहीं समझ सकेगा और प्रचलित पद्धति के अनुसार अक्षरों की पहिचान होने के बाद उसे जब शब्द

वनाना सिखाया जायगा, या प्रवेशिका-पोथी पढ़ाई जायगी, तव वह अपने आप समझता जायगा। उसकी ज्ञ पर्याय खुलती जायगी।

आत्मा स्वयं ज्ञान का भंडार है, किन्तु उसकी ज्ञान-पर्याय दबी हुई है। जब वह अक्षर परिचय आदि निमित्त से पुरुषार्थ करने लगता है और श्रवण करता है, तो उसकी ज्ञान पर्याय प्रकट होती रहती है। फिर वह पंडित बनकर बड़े बड़े ग्रंथों का रचयिता हो जाता है। किन्तु आपके बताये तरीके से तो हजारों में एकाध व्यक्ति पर भी सफलता मिलनी असंभव है।

इसी प्रकार सामायिक प्रतिक्रमणादि सिखाना भी आवश्यक है। इन्हें सीख कर फिर पृच्छा आदि से स्वरूप समझा जा सकता है और अनुप्रेक्षा से सामायिक सफल की जा सकती है। यदि पहले सामायिकादि नहीं पढ़ाया जायगा, तो आगे पर उसके भाव-सामायिक प्राप्त करने का निमित्त ही कौनसा रहेगा? शास्त्र में भी शिष्य को पहले मूलपाठ की वाचना देने का उल्लेख है। अतएव सामायिकादि सम्यक्श्रुत का अभ्यास जिस प्रकार हो रहा है, उसी प्रकार होता रहना चाहिए।

प्रश्न—आप यह तो जानते हैं कि मार्ग का अनजान व्यक्ति भटक जाता है, वह इच्छित स्थान पर नहीं पहुँच सकता। फिर आत्मा से अनभिज्ञ, आत्मस्वरूप का अनजान एवं आत्मदर्शन से वञ्चित व्यक्ति, किस प्रकार मुक्ति पा सकेगा?

उत्तर—अनभिज्ञ व्यक्ति को किसी योग्य व्यक्ति का

साथ मिल जाय, तब तो ठीक ही है, यदि वैसा साथ नहीं मिले, तो इच्छित स्थान, दिशा और मार्ग की सामान्य जानकारी भी उसे इच्छित स्थान पर पहुँचा सकती है। जैसे–

एक छोटे और देहाती गांव का रहनेवाला व्यक्ति, बंबई जाने लगा। वह पहली ही बार बंबई जा रहा है। अकेला है, अनपढ़ है। बंबई में उसका कोई जाना पहिचाना नहीं। वह इतना जानता है कि सेठ रिखबदासजी की दुकान बंबई में है और रिखबदासजी का उस गाँव में लेनदेन है। वे जब कभी आते हैं, तो खेमराज भी उनके पास जाता है। खेमराज ने सेठ से पूछा–

"आपकी दुकान बंबई में किस जगह है?"

–"जौहरी बाजार में १५ नम्बर की। क्यों बंबई देखना है क्या"–सेठ ने पूछा?

–हाँ, सेठ! मनुष्य जन्म पाया, तो बंबई तो देख लूं। अब फुरसद के दिन हैं। दो चार दिन ठहरूँगा। ठहरने को जगह चाहिए, बस"–खेमराज ने कहा।

"हाँ, अपनी दुकान है, वहीं ठहरना और खाना पीना भी वहीं। जब जाओ तब मेरी चिट्ठी ले जाना, सो तुम्हें तकलीफ नहीं पड़ेगी"–सेठ ने कहा।

खेमराज, सेठ की चिट्ठी लिये बिना ही चला गया। उसने सोचा–'निवास के लिए कोई स्थान चाहिए। खाना पीना तो मैं अपने पैसे से कर ही लूंगा।"

वह रेल्वे-स्टेशन पहुँचा। बंबई की ओर जानेवाली

गाड़ी में बैठा। गाड़ी कहाँ बदलती है, बंबई कब पहुँचती है, यह सब उसने स्टेशन पर पूछकर जान लिया और सूझबूझ से इच्छित स्थान पर पहुँच गया।

सोचने की बात है कि खेमराज ने कभी बंबई देखी ही नहीं थी, न वह किसी जानकार के साथ गया था, फिर भी मार्ग की थोड़ी-सी जानकारी लेकर ठीक बंबई पहुँच गया। इस सारे लोक की समस्त दिशा विदिशाओं और ग्रामों, नगरों को छोड़कर बम्बई और जौहरी बाजार में रही हुई सेठ रिखबदासजी की दुकान पर पहुँच गया। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य, किसी निमित्त से इतना जान ले कि--विरति का साधन, मोक्ष (आत्मत्व) प्राप्ति का अमोघ मार्ग है, जो विरत होता है, वह सफल हो सकता है। जैसे कि किसी व्यक्ति ने पहले देशविरत होकर, अपनी आश्रव की प्रवृत्ति को संकुचित कर ली। असंख्य योजन के विस्तृत क्षेत्र में भटकती हुई चित्तवृत्ति को सौ-पचास योजन में सिमित करके, अपनी प्रवृत्तियों का संवरण कर लिया। अब उसकी आशा, तृष्णा, राग, द्वेष, काम आदि का स्थान असंख्यात योजन से घट कर थोड़े-से योजनों में आ गया। समस्त लोक में आश्रव के अश्व पर सवार होकर भटकती हुई आत्मा के विचरण का केन्द्र, बहुत सीमित होगया और परिणति की तीव्रता में मन्दता आ गई। थोड़े दिन बाद वह प्रतिमाधारी श्रावक हुआ। अब उसकी प्रवृत्ति का क्षेत्र एक योजन से भी कम हो गया। अब उसकी आत्मा की प्रवृत्ति बहुत कम क्षेत्र में रह गई। पहले असंख्यात योजन में भटकती

थी, तब अशांत भी बहुत रहती थी, किंतु अब अशांति में बहुत कमी आगई और शांति तथा स्थिरता में वृद्धि होगई। इससे अशुभ कर्म-बन्धन की मात्रा और रस में भी बहुत कमी आगई।

इसके बाद वह प्रव्रजित होगया। अब उसकी आत्मा अधिक स्थिर होगई। उसकी प्रवृत्ति का-अविरति का पक्ष तो हट गया और प्रमाद की अनादि से चली आई आदत है, वह भी छूटती जा रही है। जब सारा प्रमाद हट जाता है, तो आत्मा में अधिकाधिक निर्मलता, स्थिरता और शांति आती जाती है। अंत में अयोगी अवस्था प्राप्त कर वह अपने आप में ही लीन, स्थिर, परम शांत और परमानन्दी हो जाता है।

वह व्यक्ति, पहले यह नहीं जानता था कि मेरा आत्मा कैसा है, उसका स्वभाव कैसा है, वह कितने गुणों का धारक है और उसका साक्षात्कार होता है या नहीं। वह इतना भर जानता था कि मैं कर्मबद्ध आत्मा हूँ और विरति के साधन से शुद्ध होकर मुक्त-परमात्मा हो सकता हूँ। इसी विचार से उसने विरति का मार्ग अपनाया और आगे बढ़ते-बढ़ते सिद्ध होगया। अतएव आत्मदर्शन के बिना विरति आदि को व्यर्थ कहना मिथ्या है।

प्रश्न—आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति तो मिथ्यादृष्टि होता है, तो क्या आप मिथ्यादृष्टि की भी मुक्ति मानते हैं ?

उत्तर—पहले बताया जा चुका है कि संक्षेप-रुचि वाला व्यक्ति, आत्म-स्वरूप से अनभिज्ञ होते हुए भी यह जानता है

कि--"मैं आत्मा हूँ। मेरी कर्मबद्ध दशा ही से जन्म-मरणादि है और विरति-संवर का साधन मुझे परमात्म पद पर प्रतिष्ठित कर देगा।" इतना विश्वास होने पर वह मिथ्यादृष्टि नहीं माना जाता।

एक बात यह भी है कि सम्यग्दृष्टि जीवों की विचारणा में भी भेद हो सकता है। जैसे—उदकपेढालपुत्र और गणधर भगवान् गौतम स्वामीजी म० (सूय. २–७) गांगेय अनगार और भगवान् महावीर प्रभु (भगवती ९–३२)। उद्कपेढालपुत्र अनगार की प्रत्याख्यान के विषय में शंका थी और गांगेय अनगार, भगवान् महावीर देव को अरिहंत कोटि में—देवपद में, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं मानते थे। फिर भी वे मिथ्यात्वी नहीं थे, क्योंकि उनकी निर्ग्रन्थ-धर्म, सम्यक्त्व, विरति, त्याग, प्रत्याख्यान एवं देव-तत्त्व में श्रद्धा थी। किसी भी तत्त्व के प्रति उनका अविश्वास नहीं था। एक को केवल प्रत्याख्यान के शब्दों के विषय में सन्देह था और दूसरे को भगवान् महावीर की व्यक्तिगत पूर्णता में सन्देह था। इस सन्देह को वे निवारण करना चाहते थे। उनकी आत्मा में दुराग्रह नहीं था। समझाने पर वे समझ गए और अपना पक्ष भी छोड़ दिया। आचारांग सूत्र अ. ५ उ. ५ में लिखा है कि—सम्यग्दृष्टि जीव, ज्ञानावरणीय के उदय से किसी असम्यक् वस्तु को भी सहज-भाव से सम्यक् मानले, तो भी वह उसके श्रद्धाबल के कारण सम्यक्-रूप से परिणमती है। तात्पर्य यह कि जिनधर्म—मोक्षमार्ग में दृढ़ आस्था रखनेवाले व्यक्ति में कभी कोई अन्यथा धारणा हो जाय और

वह यह सोचले कि–'जैनधर्म ऐसा ही मानता है, तो यह उसकी भूल होते हुए भी मिथ्यात्व नहीं है। यदि वह प्रसंग प्राप्त होने पर भी भूल नहीं सुधारे और उसे जान-बूझकर आग्रहपूर्वक पकड़े रहे, तो वह मिथ्यात्वी हो जाता है।

इस पर से यह समझना चाहिए कि आत्मा का परिपूर्ण ज्ञान नहीं होते हुए भी सर्वज्ञ के कथन पर श्रद्धा रखनेवाला सम्यग्दृष्टि है, और वह ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करके सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन सकता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि जबतक छद्मस्थता है, तबतक सभी सम्यग्दृष्टियों का, सभी विषयों में, एक मन्तव्य नहीं होता। कई बातें ऐसी है जो 'केवलीगम्य' होती है। आगमों में भी जिनका खुलासा नहीं मिलता–ऐसे विषयों में अनचाहे भी गलत धारणा हो सकती है। यह बात १२ वें गुण-स्थान तक, मन और वचन के आठों योग होने की मान्यता से भी सिद्ध हो रही है। इस पर से यह समझना सहज है कि ऊपर के गुणस्थानवाला भी कुछ बातें असत्य सोच सकता है, बोल सकता है, किंतु भावों की प्रशस्तता एवं सम्यक्त्व गुण की प्रकृष्टता से वह मिथ्यात्व के पाप से वञ्चित रह जाता है। (किंतु जो जानबूझ कर शास्त्रों की अवहेलना करता है, वह तो मिथ्यात्वी है।) यह तो हुई सम्यक्त्व की बात।

अब मिथ्यात्वी के विषय में विचार किया जाता है। यों तो मिथ्यात्व का विष, आत्मगुणों का घातक, आत्मोत्थान का मारक और अनन्त-संसार वर्द्धक है। किंतु कुछ ऐसे जीव

भी हो सकते हैं, जो मिथ्यात्व के विष को कम करते हुए आत्मा की मलिन-पर्यायें नष्ट करते रहते हैं। इससे यथाप्रवृत्तिकरण में आकर, अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं। कई आत्माएँ ऐसी भी होती हैं जो जीवनभर मिथ्यात्व में रही, मिथ्या साधना करती रही, किंतु जीवन के अंतिम सिरे पर पहुँचकर, एक साथ सम्यक्त्व, विरति एवं अप्रमत्तता प्राप्त कर, क्षपकश्रेणी पर चढ़गई और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मुक्त हो गई। भगवती सूत्र श. ६ उ. ३१ में उन 'असोच्चाकेवली' का वर्णन है, जो जीवनभर मिथ्यात्वी रहे, सम्यग्धर्म से वंचित रहे और जो साधना करते रहे, वह भी अज्ञानपूर्ण। किंतु उनमें एक गुण ठीक था। उनकी कषाय मन्द-प्रशांत थी। वे हठाग्रह से दूर थे। कषायों के उपशांत रहने से और अकामनिर्जरा बढ़ने से उन्हें विभंगज्ञान प्राप्त हो गया। उस विभंगज्ञान के द्वारा जब उन्होंने आर्हत् धर्म का परिचय पाया, तो उनकी आत्मा स्वयं सत्यासत्य को समझ गई। उन्होंने उसी समय असत्य का त्याग कर सत्य स्वीकार कर लिया। अब उनका मिथ्यात्व, मिथ्या-चारित्र और अज्ञान-कष्ट, सब नष्ट होकर साधना सम्यग्रूप में परिणत हो गई। वे अप्रमत-संयत बन गये और तत्काल श्रेणी का आरोहण कर सिद्ध बन गए।

सोचना चाहिए कि जो व्यक्ति अन्तर्मुहूर्त पहले मिथ्यात्वी था, वह एकदम सम्यक्त्वी, अप्रमत्त एवं बढ़ते बढ़ते सिद्ध कैसे होगया ? उसने मिथ्यात्व अवस्था में ही—अनजान में ही मिथ्यात्व क्षय करने का यत्न किया था। वह यह नहीं समझता

था कि मुझ में मिथ्यात्व है। वह अपने आपको सम्यक्त्वी, सत्पथगामी एवं शुद्धाचारी ही मानता था और तदनुसार उग्र साधना करता था। उसमें चारित्र की साधना होते हुए भी अकाम-निर्जरा एवं शुभ-बन्ध युक्त थी। फिर भी उसकी कषायें शान्त, प्रशस्त एवं विशुद्धिकारक थी। जिस प्रकार चिड़िया के बच्चे की आँखें खुलते ही वह दृश्य-जगत् को देखता है, उसी तरह उन्हें विभंगज्ञान से, वे आँखें मिली कि जिनसे सत्य को पहिचानने में देर नहीं लगी। यों तो विभंगज्ञान, असंख्य देवों और नारकों को भी होता है और मनुष्य-तिर्यंचों को भी, किंतु जिनकी कषायें शांत हो, जो सत्यार्थि हो, उसे ही अनायास, निधान की तरह धर्म की प्राप्ति हो जाती है। अतएव संसार के प्रति निर्वेद, धर्म के प्रति संवेग, पापों की विरति और कषायों की उपशांति होने से आत्मोत्थान होता रहता है। यह दशा ऊर्ध्व-मुखी हो, तो मिथ्यादृष्टि भव्य, सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। भले ही उसे आत्मा के विषय में विशेष जानकारी नहीं हो और निश्चयवादी उसे मिथ्यादृष्टि मानते रहें।

एकांत निश्चयवादी, जिसे सम्यक्त्व कहते हैं और आत्मा को कर्म-बंध से सर्वथा रहित मानते हैं, वह तो नाटक के इन्द्र की तरह है। जिस प्रकार इन्द्र का स्वांग सजने मात्र से वह देवाधिपति नहीं बन सकता। वह पैसे के लिए स्वांग सजनेवाला सेवक-नौकर ही रहता है, उसी प्रकार कर्मबद्ध, शरीर एवं आधि व्याधि और उपाधि में जकड़ा हुआ, आहार संज्ञा से ग्रसित, तेजस शरीर रूपी भट्टी की पूर्ति के लिए, भोजन पानी

लेकर तृप्ति माननेवाला और भूख प्यास से अकुलानेवाला तथा रोगातंक से दुखी हो, औषधी चाहनेवाला भी अपने को अबंधक निर्लिप्त, अशरीरी, अयोगी एवं अनाहारी आदि कहे, तो इस प्रत्यक्ष असत्य को कौन सुज्ञ मानेगा ? एकांतवादियों का खुद का उदाहरण ही उन्हें विषम स्थिति में डाल रहा है।

हाँ, तो पापों से उपरत होने और कषायों को उपशांत रखने से भव्य जीव, मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी, चारित्री, अप्रमत्त एवं क्रमशः अकर्मी हो सकता है।

केवलज्ञान के समान

सम्यक्त्व के प्रभाव शक्ति और परिणाम का विचार करते ज्ञात होता है कि यह महान् निधि है। जीव की वह दशा है कि जिससे वह अनन्त अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आ जाता है। यह केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान की माता के समान है। इसकी प्राप्ति सर्व सुलभ नहीं है। संसार में इसके पात्र जीव थोड़े ही होते हैं। जब तीर्थंकर, गणधर, पूर्वधर, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, जैसे महान् प्रभावशाली निमित्त होते हैं, उस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति भी कुछ सुलभ हो जाती है, किंतु इस समय वैसे उत्तम निमित्तों का तो अभाव ही हो गया है। इस समय उन महान् पूर्वजों के वंशज मुनिवरों और उनकी परम पावनी वाणी का ही आधार है। इसी के अवलम्बन से जीव, यथार्थ-दृष्टि प्राप्त कर सकता है।

लेकिन परिस्थिति में परिवर्त्तन बहुत हो गया है। उस समय निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थ-धर्म का प्रभाव अधिक था। उस उत्कृष्ट प्रभाव के आगे मिथ्यात्व का प्रभाव दब गया था, कुछ हलका होगया था। सांख्यदर्शनी परिव्राजकाचार्य शुकदेव जैसे अनेक अन्यतीर्थी आचार्य, यथार्थ-दृष्टि प्राप्त कर एक बड़े परिवार के साथ निर्ग्रन्थ-धर्म को स्वीकार कर चुके थे। अनेक राजा महा-राजा और चक्रवर्ती नरेन्द्र, निर्ग्रंथ-प्रवचन के आराधक थे। जहां केवलज्ञानी वीतराग भगवंत जैसे परमात्मा हो और महा-राजाधिराज जैसे श्रमणोपासक हो, उस समय की अनुकूलता का तो कहना ही क्या। अंग्रेजों के हाथ में राज्यसत्ता रही, तो करोड़ों भारतीय इसाई हो गये। इस प्रकार की अनुकूलता निर्ग्रंथ-धर्म के लिए थी। वह समय इसके उदयकाल का था।

यद्यपि उस समय वीतराग भगवंत और उत्तम अनगार भगवंतों का योग था और नरेन्द्र यावत् इभ्य-सेठ जैसे महान् ऋद्धिशाली श्रमणोपासक थे। उस समय भी धर्म प्रचार किया जाता था, तथापि निर्ग्रंथ अनगारों में, राजाओं, अधिकारियों और जनता को आकर्षित करने की लालसा, अपना मत फैलानें की तालावेली और संख्याबल बढ़ाने की चिन्ता नहीं थी। वे अपनी आत्म-साधना में लीन रहते थे। कोई चलाकर उनके पास आता, तो उसे निर्ग्रंथ-धर्म का उचित शब्दों में उपदेश करते, अन्यथा अपने स्वाध्याय ध्यानादि में लगे रहते थे। यदि कभी कोई ऐसा उत्तम पात्र उनकी दृष्टि में चढ़ता, तो कोई आचार्य स्वाभाविक रूप से, श्री केशीकुमार श्रमण की तरह उसे संबो-

धित करने जाते थे–वह भी परमार्थ वुद्धि से। उनके मन में मान-प्रतिष्ठा पाने की इच्छा लेश-मात्र भी नहीं रहती थी। वे उस विशेष व्यक्ति की गरज करने वाले नहीं थे। स्वाभाविक और अपने आपमें विश्वस्त रहते हुए वे उपदेश देते और फिर निरपेक्ष हो जाते। उनके उन परिमित शब्दों का प्रभाव भी अपूर्व होता था। वे शब्द, ऐसी पवित्र एवं बलवान आत्मा के होते थे कि जिनका प्रभाव, योग्य आत्मा पर अवश्य होता था। ऐसे उत्तम निर्ग्रंथों और प्रभावशाली, योग्य उपासकों के योग से निर्ग्रंथ-प्रवचन का प्रभाव, विशेष रूप से फैला था। ऐसे समय योग्य पात्र के लिए पूरी अनुकूलता थी। यदि किसी का उपादान–आत्म-योग्यता कुछ निर्वल होती, तो उस बलवान निमित्त का योग पाकर निर्बलता दूर हो जाती और वह व्यक्ति मोक्षमार्ग का पथिक हो जाता। उस समय सम्यक्त्व तो ठीक, परन्तु केवलज्ञान प्राप्त करना भी दुःसाध्य नहीं था। आज लौकिक विद्या में एकाध विषय को लेकर स्नातक वननेवाले विद्यार्थी को भी साधारणतया १०, १५ वर्ष लगजाते हैं, किंतु उस समय लोकोत्तर स्नातक–आत्मस्नातक–समस्त विषयों के सम्पूर्ण रूप से ज्ञाता=सर्वज्ञ वनने में यथा-परिणति समय लगता। हमने पर्युषण पर्व में सुना कि महात्मा सुदर्शन और पूर्णभद्र, केवल पांच वर्ष की साधना में ही पूर्ण स्नातक वन गये और अर्जुन अनगार तो केवल छः महीने में ही स्नातक वनकर सिद्ध भगवान् होगए। यह थी उस समय की परिस्थिति। ऐसा था उस समय का उत्तम योग। तव केवल ज्ञान प्राप्त करना

साधकों के लिए असंभव नहीं था। दुःशक्य था, फिर भी दृढ़ निश्चयी एवं निष्ठापूर्वक साधना करनेवाले साधक के लिए वह स्वाभाविक था। किन्तु आज ?

आज तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ बन गई है। आज वैसे उत्तम निमित्तों का तो अभाव है ही, परन्तु इस समय के योग्य श्रुतधर भी बहुत थोड़े रह गये हैं। उन थोड़ों के मार्ग में भी बहुत बड़ी बाधा खड़ी होगई है। एक ओर सैकड़ों दिखाई देनेवाले निर्ग्रंथों में इने-गिने ही निर्ग्रंथ-प्रवचन का उपदेश करने वाले हैं, दूसरे बहुत से तो उनके प्रभाव को नष्ट करके सग्रंथ-पथ के प्रदर्शक बन चुके हैं। कई राष्ट्र-नेताओं, लौकिक विद्या के स्नातकों, एवं भौतिक वैज्ञानिकों के प्रभाव से प्रभावित होगये हैं, और उनसे संमान प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के प्रपञ्च करते हैं। कोई लौकिकवाद के ही प्रचारक बन बैठे हैं। निर्ग्रंथों के वेश में, निर्ग्रंथ-प्रवचन के नाम पर, जो लौकिक मार्ग का-संसार मार्ग का=उन्मार्ग का प्रचार करे, वहां सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ कैसे हो सकती है ?

अत्यन्त खेद का विषय है कि एक बहुरूपिया भी अपने रूप-वेश के महत्व को कायम रखता है। वह राजा के वेश में रहकर दान या बख्शीश नहीं लेता, किंतु भगवान् महावीर के निर्ग्रंथ का वेश पहिने हुए कई लोग, उनकी कायम की हुई मर्यादा का खुले रूप में भंग करते हुए, उनके सिद्धांत के विरुद्ध बोलते और लिखते हुए तथा मिथ्यात्व का प्रचार करते नहीं शरमाते। ऐसे लोग, कई भोले-भाले उपासकों को सम्यक्त्व के नाम पर

मिथ्यात्व पकड़ा देते हैं और कई जीवों के सम्यक्त्व-रत्न को लूट लेते हैं। कितनी विषम स्थिति है–यह ! जब संयती के रूप में असंयती पूजे जाते हों, निर्ग्रंथ के वेश में सग्रन्थ का जाल फैल रहा हो, और असली के नाम से नकली चलते हों, तब सम्यक्त्व कितनी दुर्लभ हो जाती है ? शास्त्रकार "सद्धा परम-दुल्लहा" कहकर सम्यक्त्व की महान् दुर्लभ्यता बताते हैं। यह यथार्थ है। अनादिकाल से जीव, मिथ्यात्व में ही गोते लगाता रहा और सम्यक्त्व प्राप्ति के अभाव में उसका भावी अनन्त भव भ्रमण भी कायम रहा। यह सम्यक्त्व-रत्न उस अनन्त भव-भ्रमण की जड़ को काट कर फेंक देता है। अनन्तानुबन्धी आदि का उच्छेद अथवा उपशम क्षयोपशम हो, तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव होती है। इस प्रकार इसकी दुर्लभता अपने आप सिद्ध है। जब सम्यक्त्व रत्न के पुरस्कर्त्ता महर्षियों के समय भी यह दुर्लभ थी, तो आज के विषम जमाने में (–जब कि इसके बाधक कारण विशेष रूप से बढ़ गये हैं) इसकी प्राप्ति असंभवसी कही जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है।

जितना दुर्लभ उस जमाने में केवलज्ञान नहीं था, उतना दुर्लभ आज सम्यग्दर्शन हो गया। केवलज्ञान पर डाका नहीं पड़ सकता–लूट नहीं चलती, क्योंकि वह परिपूर्ण है, परन्तु सम्यक्त्व-रत्न की लूट तो हो सकती है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वापिस जा सकती है। अभी तो सम्यक्त्वी कहे जाने वालों के द्वारा ही विशेष रूप से लूट हो रही है। ऐसे विकट समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति, केवलज्ञान के बराबर दुर्लभ मानी जाय तो

क्या बाधा हो सकती है ? आज के मिथ्यात्व प्रधान युग में यदि कोई व्यक्ति यथार्थ-दृष्टि प्राप्त कर सके और प्राप्त सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सके, तो यह उसकी महान् सफलता—केवलज्ञान प्राप्ति के समान मानी जानी चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व, केवलज्ञान के मूल के समान है—बीज के सदृश है। यह प्राप्त हुई और कायम रही, तो विरति का अंकुर उत्पन्न होगा और उसमें अप्रमत्तता का पुष्प और वीतरागता सर्वज्ञता का फल प्राप्त हो सकेगा। बीज की प्राप्ति को फल की प्राप्ति के समान मानना, नई बात नहीं है।

पाठक समझ गए होंगे कि सम्यक्त्व कितनी दुर्लभ है। इस समय केवलज्ञान तो अलभ्य है ही। उस उदयकाल में केवलज्ञान जितना दुर्लभ नहीं था, उतनी दुर्लभ आज सम्यक्त्व हो गई है। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य, आज से ९०० वर्ष पूर्व कह गए हैं कि— '**इस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति केवलज्ञान के समान माननी चाहिए।**' आज का जमाना उससे भी अधिक हीन हो रहा है। इसलिए निर्ग्रंथ-प्रवचन के रसिकों को सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न को सुरक्षित रखने की पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

इस अनमोल रत्न की रक्षा करो

यह सम्यग्दर्शन ऐसा अनमोल रत्न है कि इसके धारक की सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती है। यह चिंतामणि-रत्न से भी अधिक मूल्यवान् है। चिंतामणि रत्न, भौतिक वस्तु देता है,

किंतु सम्यक्त्व-रत्न तो आत्मा को अखण्ड सुख देता है—मोक्ष प्रदान करता है। ऐसे विश्वोत्तम अनमोल रत्न की बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। मूल्यवान् वस्तु को लूटने वाले भी बहुत होते हैं, तद्नुसार इस महानिधि पर डाका डालने वाले--डाकू अनेकानेक हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहनीय कर्म का उदय, इसका मूल कारण है और बाह्य निमित्त कई मिल जाते हैं। कुप्रवचन, संसार मार्ग, मध्यम मार्ग आदि और इनके साथ रहा कुतर्क-जाल, भोले-भाले सम्यग्दृष्टियों को अपने चक्कर में फँसाकर, उनकी इस महानिधि को लूटकर दरीद्री बना देते हैं। "सर्वधर्म समभाव" और ऐसी कई मोहक विचारणाओं ने लाखों जैनियों के पास से इस रत्न को लूट लिया। हमें इन मोहक एवं आकर्षक जालों से बचते रहना चाहिये और परम-मान्य जिनागमों के बताये हुए मुक्ति-मार्ग पर दृढ़ श्रद्धा रखकर, इस अनमोल रत्न की रक्षा करनी चाहिए।

सम्यक्त्व महिमा

शास्त्रकारों ने सम्यक्त्व की महिमा बतलाते हुए बहुत कुछ कहा है। उनमें से कुछ नमूने यहां दिये जाते हैं।

संघ रूपी सुमेरु पर्वत की स्तुति करते हुए नन्दीसूत्रकार, सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हैं;—

"सम्मद्दंसणवर-वइर-दढ-रूढ़-गाढावगाढ-पेढस्स।
धम्मवर-रयण-मंडिय, चामीयर-मेहलागस्स॥ १२॥"

अर्थात्—संघरूपी सुमेरु पर्वत की, सम्यग्दर्शन रूपी उच्चकोटि के वज्र की सुदृढ़ और बहुत ही गहरी भू-पीठिका (आधार-शिला) है, जिस पर श्रुत-चारित्र रूपी उत्तम धर्म की मेखला स्थिर रही हुई है।

उपरोक्त गाथा में सूत्रकार भगवंत ने सम्यग्दर्शन को जिनधर्म रूपी मेरु-पर्वत की आधार-शिला बतलाई है, जिस पर समस्त संघ एवं धर्म रहा हुआ है। बिना सम्यग्दर्शन रूपी आधारशिला के न तो धर्म रह सकता है और न संघ ही। तात्पर्य यह कि धर्म और संघ का आधार ही सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व है।

इसके पूर्व संघ को चन्द्रमा की उपमा देते हुए गाथा ९ के उत्तरार्द्ध में बतलाया कि—

"जय संघ-चंद! निम्मल-सम्मत्त-विसुद्ध-जोण्हागा।"

हे निर्मल सम्यक्त्वरूपी विशुद्ध ज्योत्सना (चाँदनी) वाले संघरूपी चन्द्रमा! तुम्हारी जय हो, तुम जयवंत हो।

चाँद का प्रकाश ही चाँदनी है। यदि चाँद में चाँदनी

नहीं हो, तो उद्योत हो ही कैसे ? उसकी उपयोगिता ही क्या ? इसी प्रकार धर्म और संघ की उपयोगिता, सम्यक्त्व के साथ ही है। विना सम्यक्त्व के संघ भी निरुपयोगी-व्यर्थ रह जाता है।

भगवान् ने फरमाया है कि "सद्धा परम दुल्लहा"-
श्रद्धा की प्राप्ति परम दुर्लभ है (उत्तरा. ३-९)

श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८ गा. ३० इस प्रकार है;-

णा दंसणिस्स णाणं, णाणेण विणा णहुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥
(उत्तरा. २८-३०)

-दर्शन के विना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं, उसमें चारित्र गुण नहीं होता। ऐसे गुण-हीन पुरुष की मुक्ति नहीं होती और विना मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नहीं होती।

इसके पूर्व कहा कि-"णत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं"-सम्यक्त्व के विना चारित्र नहीं होता।

प्रज्ञापना सूत्र के २२ वें पद में लिखा कि-

"जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया णियमा कज्जइ"।

अर्थात्-जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्ययिक क्रिया लगती है, उसे अप्रत्याख्यान क्रिया अवश्य लगती है। सम्यग्दर्शन के अभाव में की हुई क्रिया, सम्यक् चारित्र रूप नहीं होती।

श्री सूयगडांग सूत्र अ. ८ में कहा है कि-

जे या बुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

—जो व्यक्ति महान् भाग्यशाली और जगत् में प्रशंसनीय है, जिसकी वीरता की धाक जमी हुई है, किंतु वह धर्म के रहस्य को नहीं जानता है और सम्यग्दृष्टि से रहित है, तो उसका किया हुआ सभी पराक्रम—दान, तप आदि अशुद्ध है—कर्म-बंध का ही कारण है। और जो बुद्धिशाली भाग्यवान् सम्यग्दर्शन से युक्त है, उसके व्रतादि सब शुद्ध है।

सम्यक्त्व का गुणगान करते हुए 'नवतत्त्व प्रकरण' में लिखा है कि—

जीवाइनवपयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं ।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥ २६ ॥

सव्वाइ जिणेसरभासिआइं, वयणाइं नन्नहा हुंति ।
इअ बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥२७॥

अंतो मुहुत्तमित्तंपि, फासियं हुज्ज जेहिं समत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥ २८ ॥

—जो जीवादि नव पदार्थों को जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है। यदि क्षयोपशम की मन्दता से कोई यथार्थ रूप से नहीं जानता, तो भी "भगवान् का कथन सत्य है"—इस प्रकार भाव

से श्रद्धान करता है तो भी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है (यही वात आचारांग श्रु० १ अ० ५ उ० ५ में लिखी है)॥१॥

भगवान् जिनेश्वर के कहे हुए सभी वचन सत्य हैं, वे कभी भी असत्य नहीं होते—ऐसी निश्चल बुद्धि जिसमें है, उसकी सम्यक्त्व दृढ़ होती है। ॥२॥

जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, उसे कुछ न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन से अधिक संसार परिभ्रमण नहीं होता। इतने काल में वह मोक्ष पा ही लेता है। ॥३॥

'सम्यक्त्वकौमुदी' में सम्यक्त्व की महिमा वताते हुए लिखा कि—

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं,
सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बंधोर्न परो हि बंधुः,
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः॥

—संसार में ऐसा कोई रत्न नहीं जो सम्यक्त्व रत्न से बढ़कर मूल्यवान हो। सम्यक्त्व मित्र से बढ़कर, कोई मित्र नहीं हो सकता, न बंधु ही हो सकता और सम्यक्त्व लाभ से बढ़कर संसार में अन्य कोई लाभ हो ही नहीं सकता।

श्लाघ्यं हि चरणज्ञान—वियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते॥

ज्ञान और चारित्र से रहित होने पर भी सम्यग्दर्शन प्रशंसा के योग्य है, किंतु मिथ्यात्व विष से दूषित होने पर ज्ञान

और चारित्र प्रशंसित नहीं होते।

एक आचार्य ने सम्यक्त्व का महत्व बताते हुए लिखा कि–

असमसुखनिधानं, धाम संविग्नतायाः,
भवसुखविमुखत्वो,–द्दीपने सद्विवेकः।
नरनरकपशुत्वो–च्छेदहेतुर्नराणाम्,
शिवसुखतरु बीजं, शुद्ध सम्यक्त्व लाभः॥

–शुद्ध सम्यक्त्व, अतुल सुख का निधान है। वैराग्य का धाम है। संसार के क्षण-भंगुर और नाशवान सुखों की असारता समझने के लिए सद्विवेक रूप है। भव्य जीवों के नरक, तिर्यंच और मनुष्य संबंधी दुःखों का नाश करने वाला है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति ही मोक्ष-सुख-रूप महावृक्ष के बीज के समान है।

दिगम्बर आचार्य श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव में कहा है कि–

सद्दर्शनम्महारत्नं, विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्त कल्याण, दानदक्षं प्रकीर्तितम्॥

सम्यग्दर्शन, सभी रत्नों में महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है और आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण-मंगल देने वाला चतुर दाता है।

चरणज्ञानयोर्बीजं, यमप्रशमजीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठानं, सद्भिःसद्दर्शनं मतम्॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का बीज है। व्रत महा-

व्रत और उपशम के लिए जीवन स्वरूप है। तप और स्वाध्याय का यह आश्रय दाता है। इस प्रकार जितने भी शम, दम, व्रत, तप आदि होते हैं, उन सब को यह सफल करने वाला है।

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं, चरणज्ञानविच्युतम्।
न पुनः संयमज्ञाने, मिथ्यात्व विषदूषिते ॥

ज्ञान और चारित्र के नहीं होने पर भी अकेला सम्यग्-दर्शन प्रशंसनीय होता है। इसके अभाव में संयम और ज्ञान, मिथ्यात्व रूपी विष से दूषित होते हैं।

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम्।
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥१३॥

—इस जगत् में समस्त द्रव्यों का समूह प्राप्त होना सुलभ है और धरणेन्द्र, नरेन्द्र और सुरेन्द्र द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपन भी सुलभ है। क्योंकि इनकी प्राप्ति कर्मों के उदय से होती है। उत्तम कुल, बल, सुभगता, सुन्दर-स्त्री आदि सभी पदार्थ सूलभ है, किंतु एक बोधिरत्न की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है।

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा, विशुद्धं यस्य दर्शनं।
यतस्तदेव मुक्त्यंगमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥५७॥

आचार्य श्री कहते हैं कि—जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन है, वही पुण्यात्मा है और वही महाभाग्यशाली आत्मा, मुक्त है—ऐसा

मैं मानता हूं, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मुख्य अंग कहा है।

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥५८॥

—जो जीव, चारित्र और ज्ञान के कारण इस जगत् में प्रसिद्ध हैं, वे भी सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

अतुलसुखनिधानं, सर्वकल्याणबीजं।
जननजलधिपोतं, भव्यसत्वैकपात्रम् ॥
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं,
पिबत जित विपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥५९॥

—हे भव्य जीवों! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो। यह सम्यग्दर्शन, अतुल्य सुख का निधान है। सभी प्रकार के कल्याणों का कारण है, संसार समुद्र से तिरानेवाला जहाज है। इसे केवल भव्य जीव ही प्राप्त कर सकते हैं। यह पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है। यह पवित्र तीर्थों में प्रधान है और अपने विपक्ष ऐसे मिथ्यादर्शन रूपी शत्रु को जीतने वाला है। इसलिए सबसे पहले इस अमृत को ही ग्रहण करना चाहिए।

आराधनासार में लिखा है कि—

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना, प्रोक्तं जिनेन स्वयं।
सम्यक्त्वाद्भुत-रत्नमेतदमलं, चाभ्यस्तमप्यादरात् ॥

भंक्त्वासंप्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्याच्च सम्यक्पर-
ब्रह्माराधनमद् भुतोदितच्चिदानंदं पदं विदते ।

जो मनुष्य तीन जगत् के नाथ ऐसे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित, सम्यक्त्वरूप अद्भुत रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह निन्दित कर्मों को वलपूर्वक समूल नष्ट कर के विलक्षण आनन्द प्रदान करने वाले परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

दर्शनपाहुड में लिखा कि–

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेंहि सिस्साणं ।
तं सोउणसकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

जिनेश्वर भगवान् ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि 'धर्म, दर्शन-मूलक ही है। इसलिए जो सम्यग्दर्शन से रहित है, उसे वंदना नहीं करनी चाहिए। अर्थात्–चारित्र तभी वंदनीय है जब कि वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

चारित्र पालने में असमर्थ जीवों को उपदेश करते हुए पूर्वाचार्य 'गच्छाचारपइन्ना' में लिखते हैं कि–

जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं ।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागेहिं ॥
ओसन्नोऽविविहारो, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ ।
चरणकरणविसुद्धं, अवबूहिंतो परूविंतो ॥

–यदि तू भगवान् के कथानुसार चारित्र नहीं पाल

सकता, तो कम से कम जैसा वीतराग भगवान् ने प्रतिपादन किया है, वैसा ही कथन तुझे करना चाहिए। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का यथार्थ रूप से, बलपूर्वक निरूपण करता है, तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य में सुलभबोधी होगा।

'मोक्षपाहुड' में–

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गएकाले।
सिज्झिहहि जे भविया, तं जाणइ सम्मत्तं माहप्पं।

–अधिक क्या कहें, जो उत्तम पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं वे, और जो भविष्य में सिद्ध होंगे, वे सम्यक्त्व के बल से सिद्ध होते हैं। सम्यक्त्व के इस माहात्म्य को समझना चाहिये।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥

वे मनुष्य धन्य हैं कि जिनके पास मुक्ति प्रदान कराने वाला सम्यक्त्व है और उस सम्यक्त्व रूपी महारत्न को वे स्वप्न में भी मलिन नहीं होने देते। वे ही मनुष्य कृतार्थ हैं और वे ही पंडित (समझे हुए) एवं शूरवीर हैं।

मिथ्यात्वरूपी महाशत्रु का प्रबल आक्रमण होते हुए भी जिन्होंने अपने सम्यक्त्व रत्न को नहीं खोया और सुरक्षित रखा, वे वास्तव में शूरवीर हैं और जिन्होंने अनेक प्रकार के वादों, तर्कों और प्रलोभनों के होते हुए भी अपने सम्यग्दर्शन को

निर्मल एवं निष्कम्प रखा, वे यथार्थ ही पंडित–समझदार हैं।

'रत्नकरंड श्रावकाचार' में–

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यतनू भृताम्॥

–इस जीव को सम्यक्त्व के समान तीन लोक और तीन काल में कोई भी कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई भी अकल्याणकारी–दुःखदायक नहीं है।

उपदेशरत्नाकर में–

लहिऊण मोहजयसिरि, सिच्छह जई सिद्धिपुरवरे गंतुं।
अक्खयसुहमणुभविउं, ता वरदंसणरहं भयह॥१॥
सुअचरणवसहजुत्तो, आवस्सग-दाणसाइपत्थयणो।
निच्छयववहारचक्को, दंसणरहु नेइ जणु रिद्धि॥२॥

–यदि तुम मोह-विजयरूप लक्ष्मी को प्राप्त करके उत्तम स्थान सिद्धिपुर में जाना और अक्षय सुख का अनुभव करना चाहते हो, तो सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रथ में बैठो, जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी बैलों से युक्त षडावश्यक, दान आदि रूप पाथेय सहित तथा निश्चय और व्यवहार रूपी चक्र (पहियों) वाला है। यह दर्शनरथ, मनुष्य को मोक्षपुरी में ले जाकर महान् ऋद्धि का स्वामी बनाता है।

कर्त्तव्य कौमुदी–

सम्यग्दृष्टिविलोकिते हि सकलं सद्धर्म कृत्यंभवेत्।
सम्यग्दृष्टिरुदाहृता जिनवरैस्तत्त्वार्थरुच्यात्मिका॥

सद्देवः सुगुरुः सुधर्म इति सत्तत्त्वत्रयं कथ्यते ।
ज्ञात्वा तत्परमार्थतः कुरु रुचिं तत्त्वत्रये निर्मले ।।

—धर्म की जो भी क्रिया हो, वह सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होनी चाहिए। जिनेश्वर भगवंतों ने सम्यग्दृष्टि का स्वरूप तत्त्वार्थ की रुचिरूप बतलाया है। सुदेव, सद्गुरु और सद्धर्म, ये तीन तत्त्व कहे हैं। हे सुज्ञ ! इन तीनों तत्त्वों का पारमार्थिक स्वरूप समझ और विशुद्ध स्वरूप में रुचिवंत होजा—अटल एवं दृढ़ श्रद्धालु बनजा।

'मोक्षपाहुड' में लिखा कि—

गहिऊण य सम्मत्तं, सुणिम्मलं सुरगिरीव णिकंपं ।
तंझाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खखयट्ठाए ।।

—श्रावक को सम्यक्त्व प्राप्त करके उसे निर्मल, निष्कम्प और मेरु पर्वत की तरह अचल रखना चाहिये और समस्त दुखों का नाश करने के लिए सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा अपरंपार है। सभी जैनाचार्यों ने एक-मत से इस बात को स्वीकार की है, किंतु उदय के प्रभाव से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो "तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन" को नहीं मानकर, अपनी मति-कल्पना से सिद्धांत को दूषित करते हैं और अपनी समझ में आवे उसको ही सत्य मानने को सम्यक्त्व कहते हैं—भले ही वे खुद भूल कर रहे हों। कुछ ऐसे भी हैं जो आगमों का अर्थ अपनी इच्छानुसार —विपरीत करके, मिथ्या प्रचार करते हुए, सम्यक्त्व को दूषित

करते हैं। और उपासकों की श्रद्धा बिगाड़ कर उन्हें धर्म से विमुख बनाते हैं। ऐसे ही लोगों का परिचय देते हुए सूत्रकृतांग १-१३-३ में गणधर महाराज ने फरमाया है कि-

विसोहियं ते अणुकाहयं ते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा॥

जो निर्दोष वाणी को विपरीत कहते हैं, उसकी मनचाही व्याख्या करते हैं और वीतराग के वचनों में शंका करके झूठ बोलते हैं, वे उत्तम गुणों से वंचित रहते हैं।

ऐसे लोगों से सावधान करते हुए विशेषावश्यक में आचार्यवर ने बताया कि-

"सव्वण्णुप्पामण्णा दोसा हु न संति जिणमए केई।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा॥१४६६॥

-सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु के द्वारा प्रवर्तित होने से, श्री जिनधर्म में किंचित् मात्र भी दोष नहीं है। यह धर्म सर्वथा शुद्ध, पूर्णरूप से सत्य और उपादेय है। किंतु अनुपयोगी गुरुओं के कथन से अथवा अयोग्य शिष्यों से, जिनशासन में दोष उत्पन्न होते हैं। यह सारा दोष उन दूषित व्यक्तियों का है-जो अपने दोषों से जिनमत को दूषित करते हैं। इसलिए व्यक्तियों के दोष को देखकर, धर्म को दूषित नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार दूषित श्रद्धा वालों से बचकर, सम्यग्श्रद्धान को दृढ़ीभूत करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। सम्यक्त्व को दृढ़ीभूत करने के लिए शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं कि-

मेरुव्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठ-मलं तिमूढ उम्मुक्कं ।
सम्मद्दंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा ॥

—प्रवचन (जिनागम) के अभ्यास से, आठ प्रकार के मल से रहित, तीन प्रकार की मूढ़ता से वंचित और मेरु के समान निष्कम्प ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए आत्मार्थीजनो को नित्य ही जिन प्रवचन का श्रवण और पठन करते ही रहना चाहिए ।

आत्म बन्धुओं ! समझो । यह सम्यग्दर्शन ऐसी चीज नहीं है जो सब की अपनी मनमानी और घर जानी हो । थोड़ी-सी विपरीतता के कारण, जमाली मिथ्यादृष्टि बन गया, तो अपन किस हिसाब में हैं ? पूर्वों का ज्ञान धराने वाले भी मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, तो आजकल के थोथे विद्वान्—कुतर्की पंडितों पर विश्वास करके अपने दर्शन गुण से क्यों भ्रष्ट होते हो ? सम्यक्त्व, इन लौकिक पंडितों या बड़े बड़े नेताओं की जेबों में—स्वच्छन्द मस्तिष्क में, या वाक्पटुता में नहीं भरी है। वह है निर्ग्रन्थ प्रवचन में । सम्यग् श्रद्धान की प्राप्ति परमदुर्लभ है। इस महान् रत्न को सम्हाल कर रखो । तुम्हारी बुद्धि पर डाका डालकर इस रत्न को लूटने वाले लुटेरे, साहुकारों के रूप में कई पैदा हो गए हैं । उनकी मोहक और धर्म के लेबलवाली, मीठी शराब मत पी लेना । असल नकल की परीक्षा, निर्ग्रन्थ-प्रवचन अथवा ज्ञानी गुरु से करना । श्री आचारांग सूत्र १—५—६ में लिखा है कि "पर-प्रवाद तीन तरह से तपासना चाहिए—१ गुरु परम्परा से २ सर्वज्ञ के उपदेश से ३ या फिर अपने जातिस्मरण ज्ञान

से। अभी तीसरा साधन प्रायः नहीं हैं। दो साधनों से ही परीक्षा करनी चाहिए, अन्यथा धोखा खा जाओगे और खो बैठोगे—इस दुर्लभ रत्न को।

धन्य है वे प्राणी, जो अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न की रक्षा करते हुए दृढ़ रहते हैं और दूसरों को भी दृढ़ बनाते हैं। उन्हें वारवार धन्यवाद है।

"संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ, अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ, णवं कम्मं ण बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ, दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं णाइक्कमइ" ॥१॥

हे भगवन् ! संवेग से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—संवेग से उत्तम धर्म श्रद्धा जागृत होती है। धर्म की उत्कृष्ट श्रद्धा करने से संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) की शीघ्र प्राप्ति होती है। अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय होता है। नये कर्मों का वन्धन नहीं होता। मिथ्यात्व की विशुद्धि होकर दर्शन की आराधना होती है। दर्शन विशुद्धि से शुद्ध होने पर कोई तो उसी भव में सिद्ध हो

जाते हैं और जो उस भव में सिद्ध नहीं होते, वे तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते अर्थात् तीसरे भव में सिद्ध हो जाते हैं।

"धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? धम्म-सद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगार-धम्मं च णं चयइ, अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेदणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वा-बाहं च णं सुहं निव्वत्तेइ" ।३।

हे भगवन् ! धर्म श्रद्धा से जीव क्या फल पाता है ? उत्तर-धर्म श्रद्धा से सातावेदनीय कर्मजनित सुख से विरक्त हो जाता है। फिर गृहस्थाश्रम छोड़कर अनगार हो जाता है। अनगार होकर शारीरिक और मानसिक छेदन भेदनादि संयोग-जन्य दुखों का विच्छेद कर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

"दंसणसंपण्णयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? दंसणसंपण्णयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ परं ण विज्झा-यइ, परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं णाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ" ॥६०॥

—दर्शन सम्पन्नता का क्या फल है ? दर्शन सम्पन्नता से भव-भ्रमण का हेतु ऐसे मिथ्यात्व का नाश कर देता है। उसका ज्ञान दीपक कभी नहीं बुझता। वह उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन में आत्मा को जोड़ता हुआ समभाव युक्त विचरता है ॥६०॥

(उत्तरा. २९)

"सद्धं णगरं किच्चा"— (उत्तरा. ९)

कुणमाणोऽवि य किरियं परिच्चंयतोऽवि सयणधणभोए।
दितोऽवि दुहस्स उरं न जिणइ अंधो पराणियं।

—स्वजन धन एवं भोग का त्याग करता हुआ, दुःख की उपेक्षा करता हुआ और अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता हुआ भी अन्धा मनुष्य, शत्रु-सैन्य पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार;—

कुणमाणोऽवि निवित्ति, परिच्चयंतोऽवि सयणधणभोए।
दिंतोऽवि दुहस्स उसं मिच्छदिट्ठि न सिज्झई।

—स्वजन, धन और भोग के त्यागपूर्वक, यम नियम रूपी निवृत्ति मार्ग का सेवन करता हुआ और पंचाग्नि ताप आदि दुःख की उपेक्षा करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि (सम्यक्त्व के अभाव में) सिद्ध पद प्राप्त नहीं कर सकता।

(आचारांग अ. ४ की निर्युक्ति)

जह केवलम्मि पत्ते तेणेव भवेण वण्णिओ मोक्खो।
पगरिसगुणभावाओ तह सम्मत्तेऽवि सो समओ॥

—जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाय, वह उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार प्रकर्षगुणत्व युक्त प्राप्त सम्यक्त्व से भी मुक्ति प्रात होती है।

सम्यक्त्व की महिमा, उत्तम कोटि के द्रव्य चारित्र से भी अधिक है। कहा है कि—

सव्वजियाणं चिय जं सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ।
भणिओ नय सो एयं लिंगं मोत्तुं॥

—व्यवहार राशिगत सभी जीवों की ग्रैवेयक तक उत्पत्ति शास्त्रों में कही है। ग्रैवेयक में उत्पत्ति, बिना उत्तम कोटि के द्रव्य चारित्र के नहीं होती।

इस प्रकार व्यवहार राशीगत सभी जीवों ने उत्तम द्रव्य चारित्र तो पाया, किंतु सभी जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिए उत्तम कोटि के द्रव्य चारित्र से भी सम्यक्त्व का महत्व अधिक है।

जिनधर्म विनिर्मुक्तो, मा भुवं चक्रवर्त्यपि,
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिनधर्माधिवासितः।

—(सम्यग्दृष्टि की यह भावना होती है कि) जिनधर्म से रहित होकर चक्रवर्ती होना भी मुझे स्वीकार नहीं, किन्तु जिनधर्म युक्त दास एवं दरिद्र होना भी स्वीकार है।

—:—

तुह समत्ते लद्धे, चिंतामणी कप्पपाय वब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥

यदीयसम्यक्त्वबलात्प्रतीमो
भवादृशानां परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय
नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ?

—हे भगवन् ! आपके धर्म शासन के संबंध से उत्पन्न सम्यक्त्व के वल से, हम आप जैसे महापुरुषों के श्रेष्ठ स्वभाव (उत्तम आशय) को जान लेते हैं। अतएव कुवासना रूपी बन्धन को विनष्ट करने वाले ऐसे आपके शासन को हमारा नमस्कार हो।

जिणुत्त तत्ते रुइ लक्खणस्स,
णमो णमो णिम्मल-दंसणस्स ।
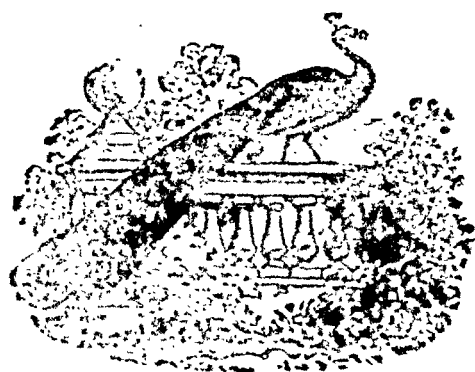
संघ के प्रकाशन

	मूल्य	पोस्टेज
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	५—००	१—७१
२ भगवती सूत्र भाग १	५—००	१—८३
३ भगवती सूत्र भाग २	५—००	१—८३
४ उत्तराध्ययन सूत्र	२—००	०—४६
५ उववाइय सुत्त	२—००	०—४९
६ जैन स्वाध्यायमाला	२—००	०—४९
७ दशवैकालिक सूत्र	१—२५	०—३७
८ अंतगडदसा सूत्र	१—००	०—२५
९ स्त्री प्रधान धर्म	०—२५	०—०८
१० सुख विपाक सूत्र	०—२०	०—०८
११ प्रतिक्रमण सूत्र	०—१६	०—०८
१२ सामायिक सूत्र	०—०७	०—०५
१३ सूयगडांग सूत्र	अप्राप्य	
१४ सिद्धस्तुति	अप्राप्य	
१५ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१—००	०—२५
१६ नन्दी सूत्र	२—५०	०—६४
१७ आलोचना पंचक	०—१०	०—०५
१८ संसार-तरणिका	०—५०	०—११
१९ सम्यक्त्व विमर्श		
२० आत्मसाधना संग्रह	१—२५	०—४०

सम्यग्दर्शन पाक्षिक पत्र वार्षिक ६) रु०

मुद्रक :—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (म० प्र०)